ओ३म्

वैदिक-कर्तव्य-शास्त्र

(वैदिक कर्तव्यों पर सप्रमाण तुलनात्मक विचार)

लेखक

धर्मदेव विद्यावाचस्पति

प्रकाशन मन्दिर, गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी

ओ३म्

स्वाध्याय मञ्जरी का इक्कीसवाँ पु

वैदिक-कर्तव्य शास्त्र

अथवा

वैदिक, वैयक्तिक, पारिवारिक, और राष्ट्रीय कर्तव्यों पर
सप्रमाण तुलनात्मक विचार।

लेखक

श्री पं० धर्मदेव जी सिद्धान्तालंकार,
विद्यावाचस्पति, देहली।

['भारतीय समाज शास्त्र' 'स्त्रियों का वेदाध्ययन और वैदिक कर्मकाण्ड में अधिकार,' 'बौद्धमत और वैदिक धर्म.' 'महर्षि दयानन्द और महात्मा गान्धी,' 'आर्यधर्म निबन्ध माला,' अमर धर्मवीर स्वामी श्रद्धानन्द जी आदि ग्रन्थों के निर्माता]।

परिवर्तित तथा परिवर्द्धित संस्करण

श्रद्धानन्द स्मारक निधि के सभासदों की सेवा में
गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी की ओर से
सम्वत् २००९ की भेंट

मूल्य संशोधित मूल्य
20/00

प्रकाशक—
प्रकाशन मन्दिर,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
(सहारनपुर)।

प्रथम वार १००० प्रति
सम्वत् २००६

मुद्रक—
श्री हरिवंश वेदालंकार,
गुरुकुल मुद्रणालय,
गुरुकुल कांगड़ी।

ओ३म्

गुरुकुल स्वाध्याय मञ्जरी का इक्कीसवां पुष्प
श्रद्धानन्द स्मारक निधि के सदस्यों की
सेवा में

प्रिय महोदय,

वैदिक कर्तव्य शास्त्र के रूप में स्वाध्याय मञ्जरी का यह इक्कीसवां पुष्प आप की भेंट किया जा रहा है। वैदिक कर्तव्य शास्त्र के लेखक आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् और गुरुकुल के प्रतिष्ठित स्नातक श्री पं० धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति हैं। श्री पण्डित धर्मदेव जी उन थोड़े से विद्वानों में से हैं जिनका एक-एक मिनट वेदादि शास्त्रों के स्वाध्याय और आर्य सिद्धान्तों के मनन में व्यतीत होता है। आप की लेखनी से अनेक विद्वत्ता और खोजपूर्ण लेख लिखे जा चुके हैं। वैदिक कर्तव्य शास्त्र भी उसी कोटि का विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ है। मनुष्य के वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक कर्तव्यों के सम्बन्ध में वेद शास्त्र का जो मन्तव्य है उसे इस ग्रन्थ में बड़ी उत्तम रीति से प्रदर्शित किया गया है। आप इस उपयोगी ग्रन्थ का स्वाध्याय कीजिये और कर्तव्य का वैदिक आदर्श अपने सम्मुख रख कर उसके अनुसार अपना जीवन ढालने का प्रयत्न कीजिये।

प्रियव्रत वेदवाचस्पति
आचार्य
गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी
२२।३।५२

ओ३म्

समर्पण-पत्र

जिनके पवित्र कर कमलों से लगाई हुई मनोहर

गुरुकुल-वाटिका

में निवास कर के मुझे सुरभित श्रुतिकुसुमों के दिव्य मधुरस पान करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ उन अपने जगद्वन्द्य पूज्यपाद आचार्य अत्यन्त

श्रद्धास्पद धर्मवीर स्वर्गीय

स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज

का पुण्य स्मरण कर के दिव्यानन्ददायिनी कुल माता को श्रद्धा-पूर्वक यह तुच्छ भेंट अर्पण करता हूं। आशा है इसे सहर्ष स्वीकार कर पुण्य आशीर्वादों से अनुगृहीत करेगी।

विनीत आज्ञाकारी

पुत्र

धर्मदेव

विषय सूची

प्रथम परिच्छेद

द्वितीय परिच्छेद

तृतीय परिच्छेद

चतुर्थ परिच्छेद

॥ ओ३म् ॥

वैदिक कर्तव्य शास्त्र

प्रथम परिच्छेद ।

कर्तव्य शास्त्र वह शास्त्र है, जो मानवीय जीवन के उद्देश्य और लक्ष्यपर विचार करते हुए, एक व्यक्ति के अपने, अपने समान, अपने से हीन और उच्च स्थिति के लोगों के प्रति क्या कर्तव्य है तथा इन कर्तव्यों का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है, इस विषय का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करता है। भारतीय प्राचीन संस्कृत साहित्य में कर्तव्य शास्त्र (वा Ethics) पर कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं पाया जाता; क्योंकि यह विषय धर्म का एक अत्यावश्यक अंग होने के कारण धर्म शास्त्र में सर्वत्र निरूपित है। बौद्ध-धर्म तथा ईसाई मत के बाइबल इत्यादि ग्रंथों में आचारशास्त्र संबंधी कई अत्युत्तम उपदेश पाए जाते हैं। निष्पक्षपात दृष्टि से मनुस्मृति, वाल्मीकिरामायण, महाभारत इत्यादि प्राचीन संस्कृत ग्रंथों का अध्ययन किया जाए, तो निश्चय हो जायगा कि इन ग्रंथों में दी हुई आचार शास्त्र विषयक शिक्षाएं किसी अंश में भी बौद्ध तथा ईसाई मत की शिक्षाओं से कम नहीं। मानवीय पुस्तकालय में सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद है, इस बातको मैक्समूलर आदि प्रायः सभी प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वानों ने स्वीकार किया है। विकास वाद को स्वीकार करते हुए उन में से कइयों ने यह कल्पना की है कि, "वेद के अंदर आचार-शास्त्र विषयक उत्तम शिक्षाएं नही पाई जातीं। कर्म काण्ड अथवा यज्ञयाग की फजूल बातों से ही वेदका अधिक अंश

भरा हुआ है," इत्यादि। इस विचार की हम आगे चल कर समालोचना करेंगे। यहां वैदिक कर्तव्य शास्त्र के आधारभूत मूलसिद्धान्तों का केवल निर्देश करते हुए, उनमें से प्रत्येक पर वेद मंत्रों के प्रमाण द्वारा संक्षिप्त विचार करेंगे। वे मूलभूत सिद्धांत निम्न लिखित हैं —

मूल सिद्धांत

१. "परमेश्वर सब प्राणियों का एक ही पिता है,"

अतः हम सब को परस्पर भ्रातृभाव तथा मित्रता दृष्टि धारण करनी चाहिये। अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिये प्राणियों की हिंसा करना अनुचित है। द्वेषभाव को दूर करके प्रेम भाव की वृद्धि करनी चाहिये।

२. "परमेश्वर सर्वव्यापक और सर्वज्ञ है।"

उस की अध्यक्षता में सार्वभौम अटल नियम कार्य कर रहे हैं। इनके पालन करने से ही मनुष्य मात्र का कल्याण हो सकता है। इन का उल्लंघन करना अपने को आपत्तियों के मुंह में डालना है।

३. "मनुष्य जीवन का उद्देश्य दिव्य शक्ति, दिव्य शान्ति, दिव्य ज्योति, दिव्य आनन्द अथवा मोक्ष प्राप्त करना है।"

उस उद्देश्य की पूर्ति के लिये परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना, और उपासना, तथा निष्काम शुभ कर्मों का अनुष्ठान (यज्ञ) करना, मुख्य साधन है।

४. "आत्मा दिव्यशक्तिसम्पन्न, अमर और शरीर, मन, बुद्धि का अधिष्ठाता है।"

सब प्राणियों में आत्मौपम्य दृष्टि को धारण करते हुए, व्यवहार करना चाहिये। आत्मा के अन्दर काम क्रोधादि शत्रुओं को वशमें करने की पूर्ण शक्ति विद्यमान है; उसको ईश्वर भक्ति, आत्मविश्वासादि द्वारा विकसित करते हुए, पवित्र जीवन बनाना चाहिये।

५. "कर्म—नियम संसार में कार्य कर रहा है।"

किये हुए कर्म के फलसे कोई अपने को बचा नहीं सकता। परमेश्वर कर्म फल दाता है। प्रार्थनादिका उद्देश्य भावी पापसे अपने को मुक्त करना है।

६. "प्रत्येक व्यक्ति को सदा अन्धकार से प्रकाश, मृत्यु से अमृत, और पापसे पुण्यमार्ग की ओर आने का यत्न करना चाहिये।"

इसके लिये दृढ़ निश्चय अत्यावश्यक है।

७. 'शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों का समविकास होना चाहिये।'

इनमें से किसी एक शक्ति का विकास होना पर्याप्त नहीं। समविकास ही उन्नतिका मूलमन्त्र है।

८. 'व्यक्ति समाज तथा राष्ट्र में लगभग एक ही अटल व्यापक नियम कार्य कर रहे हैं।'

व्यक्ति और समाज का अटूट संबन्ध समझते हुए, व्यक्ति को अपनी शक्तियां समाज की सेवा में लगा देनी चाहियें।

९. 'बाह्य और आन्तरिक स्वाधीनता अथवा स्वराज्य को प्राप्त करने से ही सुख प्राप्त हो सकता है।'

स्वतंत्रता में ही आनन्द है, तथा परतंत्रता में दुःख है। अतः स्वतन्त्रता का संरक्षण करना प्रत्येक व्यक्ति का तथा समाज का 'मुख्य धर्म' है।

१०. 'कर्तव्य का निर्णय ईश्वरीय ज्ञान, वेद तथा पवित्र अन्तःकरण के साक्षी से हो सकता है।'

सदाचारादि भी उस में सहायक हैं।

११. 'सत्य ही के कारण इस पृथिवी का धारण हो रहा है।'

सत्य, यश और श्री इन तीनों को उत्कृष्ट समझते हुए सत्य रक्षा के लिये सर्वस्व तक अर्पण करने को उद्यत रहना चाहिये।

१२. परमेश्वर को सदा अपना रक्षक समझते हुए प्रत्येक व्यक्ति को अपने अन्दर निर्भयता पूर्णरूप से धारण करनी चाहिये।

इन सिद्धान्तों पर अब क्रमशः विचार करेंगे।

प्रथम सिद्धान्त

भ्रातृभाव तथा मित्रदृष्टि

परमेश्वर को पिता तथा मनुष्यमात्र को भाई मानने का जो उच्च सिद्धान्त है, उस को सब से पहले बाइबल में ही प्रकाशित किया गया है, अन्य किसी प्राचीन ग्रन्थ में इस उच्च भाव की कल्पना न थी, यह ईसाई मत का दावा है। किन्तु निष्पक्षपात दृष्टि से वेद के निम्न लिखित मन्त्रों पर क्षण भर भी

विचार किया जाए, तो वेद के अन्दर परमेश्वर की न केवल पितृरूपेण किन्तु साथ ही मातृरूपेण कल्पना की गई है, यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाएगा। उदाहरणार्थ—

१. 'यो नः पिता जनिता यो विधाता।' ऋ० १०।८२।३

२. 'स नो बन्धुर्जनिता स विधाता।' यजु० ३२।१०

३. 'त्वमग्ने प्रमतिस्त्वं पितासि नः।' ऋ० १।३१।१०

४. 'स नः पितेव सूनवे अग्ने सूपायनो भव।' ऋ० १।१।६

५. 'त्वं त्राता तरणे चेत्यो भूः पिता माता सदमिन्मानुषाणाम्।' ऋ० ६।१।५

इन मन्त्रखण्डों का अर्थ है—

१. (यः) जो परमेश्वर (नः) हमारा (पिता) पिता—पालनकर्ता (जनिता) उत्पादक और (यः) जो (विधाता) कर्मफल दाता है।

२. (सः) वह परमेश्वर (नः) हमारा (बन्धुः) बन्धु (जनिता) उत्पादक (सविधाता) वही विशेष रूप से धारक है।

३. (अग्ने) हे ज्ञान स्वरूप! (त्वम्) तू (प्रमतिः) सर्वज्ञ है (त्वम्) तू (नः) हमारा (पिता असि) पिता है।

४. (अग्ने) हे ज्ञान स्वरूप (सः) वह तू (सूनवे पिता इव) पिता के लिये पुत्र की तरह (नः) हमारे लिये (सु उपायनः भव) सुगमता से प्राप्तव्य हो (नः) हमें (स्वस्तये) कल्याण के लिये।

५. (त्वम्) तू (त्राता) रक्षक (तरणे) संसार सागर से तरने के लिये (चेत्यः भूः) जानने योग्य है (मानुषाणाम्) सब मनुष्यों का तू (सदम् इत्) सदैव (पिता माता) पिता और माता है।

इत्यादि स्थलों में परमेश्वर के लिये पिता शब्द का प्रयोग अत्यन्त स्पष्ट है। सचस्वा नः स्वस्तये॥ परमेश्वर सबका समान रूप से एक ही पिता है इस बात को स्पष्ट करने के लिये यजुर्वेद में—

"शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः। य. ११। ५॥

यह मन्त्र आया है, जिसमें सब प्राणियों को एक ही अमृत स्वरूप परमेश्वर का पुत्र बताया गया है। ऋग्वेद तथा सामवेद में आये हुये—

"त्वं हि नः पिता त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे॥" ऋ. ८। ९८। ११॥

इस मन्त्र में तो स्पष्टतया परमेश्वर को पिता, माता बताते हुये उससे सुख की प्रार्थना की गई है। परमेश्वर को पिता मानते हुये सब मनुष्यों और प्राणियों का भ्रातृत्व स्वयं सिद्ध हो जाता है; तथापि यदि स्पष्ट वेदमन्त्र की अपेक्षा समझी जाय, तो ऋग्वेद का निम्न लिखित मन्त्र उपस्थित किया जा सकता है—

'अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते,
संभ्रातरो वावृधुः सौभगाय॥'
ऋ० ५। ६०। ५॥

इस मन्त्र का देवता मरुत है, जिसका मनुष्यवाची होना यद् यूयं पृश्निमातरो मर्तासः स्यातन। ऋ० १। ३८। ४॥ नरा अमृता ऋतज्ञाः सत्यश्रुतः कवयो युवानः। ऋ० ५। ५७। ८॥ परा वीरास एतन मर्यासो भद्रजानयः। ऋ० ५। ६१। ४॥ इत्यादि से जहां नर, मर्य, मर्त आदि मनुष्यवाचक शब्दों तथा ऋतज्ञ (वेद के ज्ञाता) सत्यश्रुतः (सत्य के कारण प्रसिद्ध या सत्य का श्रवण करने वाले) कवयः (विद्वान् कवि) युवानः (युवक) भद्रजानयः (जिनकी अच्छी स्त्रियां हैं इत्यादि विशेषणों से स्पष्ट है तथा श्री सायणाचार्य ने भी, "मनुष्यरूपा वा मरुतः।" इत्यादि वाक्यों द्वारा, स्पष्ट स्वीकार किया है। मन्त्र का अर्थ है कि—(एते) ये सब मनुष्य (भ्रातरः) भाई हैं (अज्येष्ठासः) इनमें से कोई जन्म से बड़ा नहीं (अकनिष्ठासः) कोई छोटा नहीं, इस समानता के भाव को धारण करते हुये सब (सौभगाय) ऐश्वर्य वा उन्नति के लिये (सं वावृधुः) मिलकर प्रयत्न करते और आगे बढ़ते हैं।

युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः॥

(एषाम्) इन सब मनुष्यों की (युवा) नित्य युवा अथवा सन्सार को बनाने वाले (स्वपाः) उत्तम कर्मों वाला (रुद्रः) दुष्टों को दन्ड देकर हिलाने वाला परमेश्वर (पिता) पिता है और इन (मरुद्भ्यः) वीर मनुष्यों के लिये (पृश्निः) प्रकृति माता गाय के समान (सुप्रघा) अच्छे अन्नादि देने वाली तथा (सुदिना) कल्याणकारिणी होती है। सार्वजनिक भ्रातृत्व वा युनिवर्सल ब्रदरहुड के उच्च सिद्धांत का इस मन्त्र में जितनी उत्तमता से प्रतिपादन है उतना बहुत की कम दूसरे ग्रन्थों में पाया जाता है। परमेश्वर को पिता और प्राणिमात्र

को परस्पर भाई मानने का स्वाभाविक परिणाम सब प्राणियों को मित्र दृष्टि से देखना है। इसीलिये वेद में प्रार्थना की गई है—

"मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥ य० ३६। १८॥

अर्थात् सब प्राणी मुझे मित्रदृष्टि से देखें, मैं सब प्राणियों को मित्रदृष्टि से देखूं, हम सब परस्पर मित्रदृष्टि से देखें। इस से बढ़ कर मित्रदृष्टि की शिक्षा देने वाला उपदेश और क्या हो सकता है? इसी प्रसंग में 'अनमित्रं नः पश्चादनमित्रं न उत्तरात्।' (अथर्व० ६। ४०। ३) यह वेद मन्त्र द्रष्टव्य है, जिस में सब दिशाओं में रहने वाले प्राणी हमारे मित्र बनें, शत्रुता का सर्वथा नाश हो जाए, यह प्रार्थना की गई है। द्वेषभाव उपर्युक्त सार्वजनिक भ्रातृत्व अथवा विश्व प्रेम के सर्वथा विरुद्ध है। इस लिये वेद में स्थान स्थान पर द्वेषभाव को दूर करने के उपदेश और प्रार्थनाएं पाई जाती हैं। उदाहरणार्थ—

१. विश्वा द्वेषांसि प्रमुमुग्ध्यस्मत्। यजु० २१। ३।

अर्थात् हमारे से सब प्रकार के द्वेष भाव को दूर कर दो।

२. यजु० १२। ४६ 'युयोध्यस्मद् द्वेषांसि।' यह प्रार्थना है जिस का अर्थ हमारे से सब द्वेष युक्त भावों को दूर कर दो ऐसा है।

३. 'आरे द्वेषांसि सनुतर्दधाम।' ऋ० ५। ४५। ५

यह प्रार्थना है, जिस का भाव यह है कि हम (सनुतः) सदा (द्वेषांसि) द्वेषभावों को (आरे दधाम) दूर रखें।

४. 'अद्वेषे द्यावापृथिवी हुवेम।' यजु० १२। २६ अर्थात् हम सब द्वेष रहित द्युलोक और पृथिवी लोक का स्वीकार करते हैं, अथवा ये दोनों लोक द्वेष रहित हों। द्वेष का इन लोकों से समूल नाश हो जाए, यह भाव यहां अभिप्रेत है।

५. 'स सुत्रामा स्ववां इन्द्रो अस्मदाराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु।' अथर्व० २०। १२५। ७

अर्थात् सब की रक्षा करने वाला परमेश्वर द्वेष के भाव को हम से सदा दूर रखे।

६. 'इन्द्रः सुत्रामा स्ववां अवोभिः सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः। बाधतां द्वेषो अभयं नःकृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम॥'
अथर्व० २०। १२५। ६

अर्थात् सर्वरक्षक सर्वज्ञ परमेश्वर हमारे लिए सदा सुखदायक हो। वह हमारे द्वेष भाव को दूर कर के हमें निर्भय बनाए, ताकि हम उत्तम वीर्य के रक्षक स्वामी होवें।

इस प्रकार के हज़ारों मन्त्र वेदों से उद्धृत किये जा सकते हैं, किन्तु विस्तार के भय से हम इस विषय में अन्य प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं समझते। द्वेष भाव को दूरने की प्रार्थना वेद में कितने साफ शब्दों में पाई जाती है, इस बात को दिखाने के लिए इतने ही प्रमाण पर्याप्त हैं। द्वेष

भाव को दूर कर के परस्पर व्यवहार करना चाहिए, इस के अन्दर ही यद्यपि प्रेम भाव की वृद्धि का उपदेश पर्यायरूपेण आ जाता है, तथापि स्पष्टतया इस भाव के द्योतक दो तीन वेद-मन्त्रों को उद्धृत करना यहां अनुचित न होगा।—

१. 'समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सु सहासति ।' ऋ० १० । १६ १ । ४
इस का अर्थ निम्न प्रकार है—

(वः) तुम सब मनुष्यों का (आकूतिः) संकल्प (समानी) समान हो, वः (हृदयानि समाना) तुम सब के हृदय समान हों, (वः) तुम्हारा (मनः) मन (समान अस्तु) समान होवे, (यथा) जिस से (वः) तुम्हारा (सु सह असति) मिल कर अभ्युदय हो सके। इस पर टीका टीप्पणी करने की आवश्यकता नहीं।

'यथा नः सर्व इज्जनोऽहमीवः सङ्गमे सुमना असत् ।'
यजु० ३३ । ८६

अर्थात् हमारा व्यवहार इस तरह का हो, जिस से (सर्व इत् जनः) सब के सब मनुष्य (नः संगमे) हमारे संग में (अनमीवः) नीरोग तथा (सुमनाः) उत्तम मन वाले अर्थात् प्रीतियुक्त (असत्) हो जाएं।

२. अथर्ववेद तृतीय काण्ड के ३० वें सूक्त में इसी बात को बहुत ही साफ शब्दों में बताया गया है, जिस में से दो मन्त्रों को यहां उद्धृत किया जाता है—

'सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥'

परमेश्वर सब मनुष्यों को उपदेश करता है कि मैं (वः) तुम्हारे अन्दर (स-हृदयम्) समान हृदय और (सांमनस्यं) समान प्रीतियुक्त मन तथा (अ-वि-द्वेषं) द्वेष का सर्वथा अभाव (कृणोमि) स्थापित करता हूं, (अघ्न्या) गाय (जातं वत्सं इव) जैसे नये बछड़े को प्यार करती है, वैसे तुम (अन्यो अन्यम्) एक दूसरे के साथ (अभि हर्यत) प्रेम करो।

४. अथर्व के उसी सूक्त का ४ र्थ मंत्र इस प्रकार है—
"येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥"

अर्थात् (येन) जिस ज्ञान को प्राप्त करके (देवाः) विद्वान् लोग (न वियन्ति) विरोध को नहीं प्राप्त होते, (नो च मिथः विद्विषते) और न परस्पर द्वेष करते हैं, (वः) तुम्हारे (गृहे) घर में (पुरुषेभ्यः) सब पुरुषों के लिये (तत् ब्रह्म संज्ञानं) वह बड़ा विस्तृत ज्ञान (कृण्मः) देते हैं। यहां वैदिक ज्ञान से अभिप्राय है, जो सम्पूर्ण विरोध भाव को हटाकर परस्पर प्रीति के भाव को निरन्तर बढ़ाने वाला है।

"विश्वा उत त्वया वयं धारा उदन्या इव।
अति गाहे महि द्विषः ॥" ऋ० २। ७। ३॥

ऋग्वेद का यह मन्त्र इस प्रकरण में विशेष उल्लेख करने योग्य है। इसका अर्थ यह है कि, हे परमेश्वर! (उदन्या

धारा इव) जिस प्रकार जल की धाराएँ एक स्थान को छोड़ दूसरे स्थान पर जाती हैं, उस प्रकार (वयम्) हम (त्वया) तेरे आश्रय से (विश्वा उत द्विषः) सब के सब द्वेष युक्त भावों से (अति गाहे महि) पार चले जाएँ। परमेश्वर का आश्रय लेते हुये, सम्पूर्ण द्वेषभाव का नाश करके सब मनुष्यों को परस्पर मित्रभाव की वृद्धि करनी चाहिये, यह मन्त्र का स्पष्ट अभिप्राय है।

३. ऋग्वेद ३। २०। १ का निम्न लिखित मन्त्र विद्वान् लोग केवल अहिंसायुक्त व्यवहार को ही पसन्द करते हैं, इस बात को स्पष्ट प्रकट करता है, जो इस प्रकार है—

"सुज्योतिषो नः शृण्वन्तु देवाः
सजोषसो अध्वरं वावशानाः॥"

अर्थात् (सुज्योतिषः) उत्तम विद्या प्रकाश युक्त (सजोषसः) परस्पर समान प्रीतियुक्त (अध्वरं वावशानाः) अहिंसामय व्यवहार की कामना करने वाले वा उसे पसन्द करने वाले (देवाः) विद्वान् लोग (नः शृण्वन्तु) हमारी प्रार्थना को सुनें। 'अध्वर' शब्द की निरुक्ति यास्क मुनि ने "ध्वरतिर्हिंसा कर्मा तत्प्रतिषेधः," ऐसी बताई है, जिस से अध्वर शब्द का अहिंसा मय व्यवहार ही मुख्य अर्थ है, यह स्पष्ट प्रमाणित होता है।

इस प्रकार अहिंसा धर्म के मुख्य मुख्य तत्वों का मूल वेद में किस प्रकार उत्तम रीति से पाया है, यह देखा जा सकता है। इस विषय के आक्षेपों तथा शङ्काओं का आगे विचार किया जायगा।

द्वितीय सिद्धान्त ।

सार्वभौम नियम

परमेश्वर की सर्वज्ञता का सिद्धांत इतना स्पष्ट है कि, इस विषय में वेदमन्त्रों का प्रमाण देने की कुछ भी विशेष आवश्यकता नहीं। तथापि तीन चार मन्त्र यहां उद्धृत किये जाते हैं. जिससे इसके बारे में सन्देह न रहे।

'ऋग्वेद का प्रमाण।'

१. ऋ० १०। ८२। ३॥ जिस का आधा अंश पहले भी उद्धृत किया जा चुका है, ईश्वर की सर्वज्ञता का स्पष्टतया प्रतिपादन करता है, यथा—

"यो नः पिता जनिता यो विधाता
धामानि वेद भुवनानि विश्वा॥"

ऋ० १०। ८२। ३॥

यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं
भुवनाय न्त्यन्य॥

अर्थात् जो ईश्वर हम सबका पिता, उत्पादक और (विधाता) कर्मफल देने वाला है, वही (विश्वा) सब (धामानि) कर्म तथा (भुवनानि) लोकों को (वेद) जानता है (यः) जो (एक एव) एक ही (देवानां नामधा) देवों के अग्नि मित्र वरुण सब नामों के प्रधान स्वरूप से धारण करने वाला है (तं संप्रश्नम्) उस जानने योग्य परमेश्वर को

(अन्या भुवना) अन्य सब लोक (संयन्ति) प्राप्त होते हैं-सब उसी के वश में हैं।

इसी का पाठान्तर यजुर्वेद में—

'यजुर्वेद का प्रमाण।'

'स नो बन्धुर्जनिता स विधाता
धामानि वेद भुवनानि विश्वा ॥'

यजु० ३२। १०॥

इस रूप में पाया जाता है, जिसके अन्दर ऊपर दिया हुआ भाव समान ही है।

'अथर्व वेद का प्रमाण।'

२. अथर्व वेद चतुर्थ काण्ड के १६ वें सूक्त के अन्दर ईश्वर की सर्वज्ञता का अत्यन्त उत्तम काव्यमय वर्णन है। उसमें से निम्नलिखित दो तीन मन्त्र विशेष द्रष्टव्य हैं। इस सूक्त का दूसरा मन्त्र इस प्रकार है—

'यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम्।
द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः ॥'

अ० ४। १६। २॥

अर्थात् (यः तिष्ठति) जो खड़ा होता है (चरति) चलता है; (यश्च वञ्चति) जो धोखा देता है, (यो निलायं चरति) जो अपने को छुपाकर घूमता है, (यः प्रतङ्कम्) जो दूसरे को कष्ट देकर इधर उधर जाता है, (द्वौ संनिषद्य) दो मित्र शांति से बैठ कर (यत् मंत्रयेते) जो गुप्त सलाह करते हैं,

(तत्) उस सबको (तृतीयः वरुणः) तीसरा सर्वश्रेष्ठ (राजा) ईश्वर (वेद) जानता है। अभिप्राय यह है कि, उस सर्वज्ञ सर्व व्यापक से जिसके विषय में अगले ही मन्त्र में कहा है कि "उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः' वह समुद्रों के अन्दर और इस थोड़े से जल के अन्दर भी वही छिपा हुआ है। कोई भी अपने को गुप्त रख नही सकता। परमेश्वर को सर्वज्ञ सर्व व्यापक समझने से ही मनुष्य अपने को सब पाप व्यवहारों से दूर रख सकता है।

'सर्वं तद्राजा वरुणो विचष्टे यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात् ॥'

अथर्व० ४ । १३ । ५ ॥

अर्थात् (यत्) जो कुछ (रोदसी अन्तरा) पृथिवी और द्युलोक के अन्दर है, और (यत् परस्तात्) जो कुछ इन लोकों से परे है, (राजा वरुणः) सर्वोत्तम परमेश्वर (तत् सर्वं विचष्टे) उस सब को जानता है। इस विषय में अधिक प्रमाण देना अनावश्यक समझ कर अब सर्वज्ञ ईश्वर की अध्यक्षता में जो अटल नियम कार्य कर रहे हैं, उन का थोड़ा सा विचार किया जाता है। इन अटल नियमों को वेद में प्रायः 'ऋत और सत्य' के नाम से कहा गया है। प्राकृतिक जगत् के अन्दर कार्य करने वाले अटल व्यापक नियम 'ऋत' और अध्यात्मिक जगत् के अन्दर काम करने वाले नियमों को प्रायः 'सत्य' नाम से बताया गया है। इस विषय में ऋग्वेद का प्रसिद्ध मन्त्र—

'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसो अध्यजायत।'

ऋ० १० । १९० । १

विशेष विचारणीय है, जिस का अभिप्राय यह है कि (ऋतं च सत्यं च) भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत् में काम करने वाले नियम (अभीद्धात्) सब ओर से प्रकाशमान (तपसः) सर्वज्ञ परमेश्वर से (अध्यजायत) उत्पन्न हुए। तप के इस अर्थ के लिये—

'यस्य ज्ञानमयं तपः'

यह मुण्डकोपनिषत् 'यः सर्वज्ञः सर्व विद्' १।१।६ का प्रमाण है। इस प्रकार सर्वज्ञ परमेश्वर की अध्यक्षता में अटल नियम संसार में कार्य कर रहे हैं, यह वेद मन्त्र का स्पष्ट भाव प्रतीत होता है।

इन अटल नियमों का पालन करने से ही मनुष्य को सच्चा कल्याण प्राप्त हो सकता है, यह बात वेद में—

'सुगः पन्था अनृक्षर आदित्यास ऋतंयते ।

नात्रावखादो अस्ति वः।' ऋग्वेद १।४१।४

इत्यादि मन्त्रों द्वारा स्पष्ट की गई है, जिस का अभिप्राय यह है कि (ऋतंयते) परमेश्वर के बनाये हुए अटल नियम के अनुसार चलने वाले के लिये (सुगः) सुगम (अनृक्षरः पन्थाः) निष्कण्टक मार्ग हो जाता है (आदित्यासः) हे आदित्य ब्रह्मचारियो ! (वः) तुम्हारे इस शुभ मार्ग में (अवखादः) भय (न) नहीं है, अर्थात् जो लोग परमेश्वरीय अटल नियमों के अनुसार चलते हैं, वे ही सुखी होते हैं। इसी भाव को समझने के लिये निम्न लिखित मन्त्र देखना चाहिये—

'प्र स मित्र मर्तो अस्तु प्रयस्वान् यस्त आदित्य शिक्षति व्रतेन।
न हन्यते न जीयते त्वोतो नैनमंहो अश्नोत्यन्तितो न दूरात् ॥'
ऋ० ३ । ५६ । २

अर्थात् हे (मित्र) सब के हित करने वाले (आदित्य) सूर्य के समान प्रकाशक परमेश्वर (यः) जो पुरुष (तव व्रतेन शिक्षति) तेरे अटल नियम से शिक्षा ग्रहण करता है, अथवा उस के अनुसार चलता है (स मर्तः) वह मनुष्य (प्रयस्वान् अस्तु) कान्ति वा ऐश्वर्य युक्त बनता है। (त्वोतः) तेरे से रक्षित होता हुआ, वह (न हन्यते) न मारा जाता है, (उत) और (न जीयते) न नीच शत्रुओं से जीता जाता है। (एनम्) इस पुरुष को (अन्तितः) समीप से अथवा (दूरात्) दूर से (अंहः) पाप का भय (न अश्नोति) नहीं प्राप्त होता। भावार्थ यह है कि परमेश्वरीय अटल नियमों के अनुसार चलने में मनुष्य पाप और भय से मुक्त हो कर ऐश्वर्य शाली होता है।

३. ऋग्वेद १ । ९१ । ७ का मन्त्र इस विषय में और भी स्पष्ट है अतः यहां उस का उल्लेख करना अनुचित न होगा—

'त्वं सोम महे भगं त्वं यून ऋतायते दक्षं दधाधि जीवसे ॥'
ऋ० १ । ९१ । ७

इस मन्त्र का म० ग्रिफिथ इस प्रकार अनुवाद करते हैं—

'To him who keeps the law whether old or young, Thou givest happiness and energy that he may live well.'

अर्थात् जो ईश्वरीय नियमों का पालन करता है, वह चाहे युवक हो वा वृद्ध, परमेश्वर उस को सुख और शक्ति देता है, जिस से वह अपने जीवन को अच्छी प्रकार व्यतीत कर सके। परमेश्वर की अध्यक्षता में जो अटल नियम कार्य कर रहे हैं, जिन के अनुसार कोई भी अपने बुरे कर्मों के कटु फल से बचा नहीं सकता, चाहे वह कर्म कितना भी छिप कर किया गया गया हो। यही सुख प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन है। देवों अथवा ज्ञानियों का महत्व इसी में है कि वे उन अटल नियमों का पूर्ण रीति से ज्ञान प्राप्त करते हुए, सदा उन के अनुकूल अपने जीवन को बनाने का यत्न करते हैं। कभी वे उन अटल नियमों के प्रतिकूल नहीं चलते। देखिये वेद का कथन इस विषय में कितना स्पष्ट है—

'ऋतावान ऋतजाता ऋतावृधो घोरासो अनृतद्विषः।
तेषां वः सुम्ने सुच्छर्दिष्टमे नरः स्याम ये च सूरयः॥'

ऋ० ७। ६६। १३

अर्थात् हे (ऋतावानः) सत्य युक्त (ऋतजाताः) सत्य से उत्पन्न हुए (ऋतावृधः) सत्य की सदा वृद्धि करने वाले

(घोरासः अनृतद्विषः) असत्य के भयंकर विरोधी देव लोगो! हम (नरः) साधारण पुरुष (ये च सूरयः) और जो विद्वान् हैं, वे सब (वः) तुम्हारे (सुच्छर्दिष्टमे) अत्यंत सुरक्षित (सुम्ने) आश्रय में (स्याम) रहें।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार देव लोग सदा सत्य के व्रत का पालन करने अथवा ईश्वरीय नियमों के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करने के कारण सुखी तथा निर्भय हो कर विचरण करते हैं, वैसे हम सब भी करें।

दूसरे सिद्धान्त के विषय में इतना ही लेख पर्याप्त है। इन व्यापक नियमों को जान कर प्रत्येक पुरुष को अपना जीवन पवित्र और सुखमय बनाना चाहिये। जो पुरुष अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिये दूसरों को धोखा देता है, अथवा असत्य व्यवहार करता है वह कुछ समय के लिए भले ही उन्नत होता हुआ दिखाई दे, किंतु सच्चा सुख उसे कभी नहीं प्राप्त हो सकता। ईश्वरीय नियमों के विरुद्ध जाने का कड़ुआ फल उस को एक न एक दिन अवश्य ही चखना पड़ता है।

तृतीय सिद्धांत

जीवन का अन्तिम उद्देश्य

कर्तव्य शास्त्र जिन समस्याओं और गूढ़ प्रश्नों का उत्तर

देने के लिए प्रवृत्त हुआ है, उन में से सब से मुख्य प्रश्न यह है कि मनुष्य जीवन का अन्तिम ध्येय, लक्ष्य वा उद्देश्य क्या है ? इस प्रश्न के विचारकों ने भिन्न-भिन्न उत्तर दिए हैं। कई नास्तिक विचारकों ने केवल भोग करने को ही जीवन का उद्देश्य माना है, जैसे चार्वाकादि; कइयों ने ब्रह्म के अन्दर लीन हो जाना, इस को मनुष्य जीवन का अन्तिम उद्देश्य स्वीकार किया है, जैसे अद्वैतवादी; और कई विचारकों ने दुःख से छूट कर निर्वाण प्राप्त कर लेना, यही अन्तिम ध्येय है, ऐसा बताया है, जैसे बुद्ध आदि। यहां इस विषय पर विवाद न करते हुए वैदिक भाव मनुष्य जीवन के ध्येय के विषय में क्या है, इस बात का संक्षेप से विचार करना है। इस विषय में निम्न लिखित कुछ मन्त्रों पर विचार करना आवश्यक है।

'यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिँल्लोके स्वर्हितं ।
तस्मिन् मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित
इन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥' ऋ० ९।११३।७

इस मन्त्र का अर्थ यह है कि हे (इन्दो) सर्व प्रकाशक ज्ञानमय परमेश्वर (यत्र अजस्रं ज्योतिः) जहां निरन्तर ज्योति है (यस्मिन् लोके) जिस स्थान अथवा अवस्था में (स्वः) सुख (हितम्) रखा हुआ (तस्मिन्) उस (अमृते लोके) अविनाशी लोक में अथवा दशा में उस (अक्षिते) क्षय

रहित अवस्था में, हे (पवमान) सब को पवित्र करने वाले प्रभो (मां धेहि) मुझे धारण करो (इन्द्राय परिस्रव) मुझ पर सब प्रकार के ऐश्वर्य की वृष्टि करो। ऋग्वेद के इस मंत्र में निरन्तर ज्योति और सुख युक्त अविनाशी लोक में रहना ही मनुष्य जीवन का ध्येय बताया है। इस भाव को और अच्छी प्रकार समझने के लिये इसी सूक्त का अन्तिम मंत्र देखना चाहिये—

'यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥' ऋ० ६। ११३। ११

अर्थात् हे (इन्दो) सब को चन्द्र के समान आह्लाद देने वाले प्रभो! (यत्र आनन्दाश्च मोदाश्च) जहां हर्ष और प्रसन्नता है, (यत्र मुदः प्रमुदः आसते) जहां हर्ष और बहुत ही अधिक हर्ष है (कामस्य) कामना करने वाले जीव की (कामाः) सब कामनाएं (यत्र आप्ताः) जहां सिद्ध हो जाती हैं (तत्र) उस अवस्था में (माम्) मुझे (अमृतं कृधि) अमर बनाओ (इन्द्राय) सब प्रकार के ऐश्वर्य की (परिस्रव) मेरे ऊपर वृष्टि करो।

भावार्थ यह है कि दिव्य आनन्द को प्राप्त करना, जहां स्थिर आनन्द हो, उस के साथ दुःख का मिश्रण न हो और जिस प्रकार लौकिक विषय एक के बाद दूसरी, दूसरी के

बाद तीसरी, कामना को उत्पन्न कर के पुरुष को अशांत बना देते हैं, वैसी अवस्था न हो कर, जहां जीव के सब मनोरथ सफल हो जायं उस अलौकिक आनन्द और शान्ति की अवस्था तक पहुँचना वेद के अनुसार मनुष्य जीवन का ध्येय है।

३. इस प्रसंग में ऋग्वेद १० मण्डल का ३६ वां सूक्त विशेष द्रष्टव्य है। उस में से एक नीचे उद्धृत किया जाता है।

'विश्वस्मान्नो अदितिः अदितिः पात्वंहसो माता मित्रस्य वरुणस्य रेवतः। स्वर्वज्ज्योतिरवृकं नशीमहि तद्देवाना-मवो अद्यावृणीमहे ॥' ऋ० १० । ३६ । ३

अर्थात् (मित्रस्य) सब के साथ प्रेम करने वाले और (रेवतः वरुणस्य) ऐश्वर्य शाली श्रेष्ठ पुरुष की (माता अदितिः) अदीन स्वतन्त्रता प्रिय माता (नः) हमें (विश्व-स्मात् अंहसः) सब प्रकार के पाप से (पातु) बचावे, जिस से हम (अवृकम्) पापरहित (स्वर्वत्) सुखयुक्त (ज्योतिः) प्रकाश (नशीमहि) प्राप्त करें (तत्) उसी ज्योति और सुख को प्राप्त करने के लिए (देवानाम्) ज्ञानियों की (अवः) रक्षा को (अद्य) आज हम (आवृणीमहे) सब ओर से स्वीकार करते और चाहते हैं।

अदिति शब्द का अर्थ बन्धन रहित परमेश्वर भी हो

सकता है, उस दशा में मित्र वरुण शब्दों से सूर्य, चन्द्र का ग्रहण किया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि सब प्रकार के पाप से निवृत्त हो कर दिव्य सुख और दिव्य ज्योति को प्राप्त करना मनुष्य जीवन का ध्येय है। उस आदर्श तक पहुंचने के लिए शारीरिक, मानसिक, आत्मिक शक्तियों के समविकास की आवश्यकता है; इस भाव को निम्न लिखित वेद मंत्र में स्पष्ट तौर पर प्रकट किया गया है—

'विश्वाहा त्वा सुमनसः सुचक्षसः प्रजावन्तो अनमीवा अनागसः। उद्यन्तं त्वा मित्रमहो दिवे दिवे ज्योग् जीवाः प्रति पश्येम सूर्यम् ॥' ऋ० १०। ३७। ७

इस मन्त्र में सूर्य पद से न केवल भौतिक सूर्य का किन्तु सर्व प्रकाशक परमेश्वर का भी ग्रहण है, यह सारे सूक्त को देखने से स्पष्ट विदित होता है। हे (मित्रमहः) मित्रों द्वारा पूजनीय परमेश्वर! हम सब (जीवाः) जीव (विश्वाहा) सदा (सुमनसः) उत्तम मन वाले (सुचक्षसः) उत्तम दृष्टि वाले (प्रजावन्तः) उत्तम सन्तान युक्त (अनमीवाः) सब रोगों से रहित (अनागसः) सब पापों वा अपराधों से रहित हो कर (दिवे दिवे) प्रति दिन (उद्यन्तं त्वा) हृदय में प्रकाशित होने वाले तुझ (सूर्यम्) सर्व प्रकाशक प्रभु को (ज्योग्) चिर काल तक अथवा दीर्घ आयु तक (प्रति पश्येम) देखते रहें।

अभिप्राय यह है कि उत्तम मन, इन्द्रिय, प्रजा आदि को धारण करते हुए और सब पापों से रहित पवित्र जीवन बनाते हुए सर्व प्रकाशक भगवान् की हृदय में प्रकाशित होने वाली ज्योति के दर्शन करना, यही मनुष्य जीवन का एक मुख्य लक्ष्य होना चाहिये। इस मन्त्र से जीव ईश्वर का भेद भी स्पष्ट रीति से सूचित होता है। इस दिव्य ज्योति की प्राप्ति परमेश्वर की दया से ही हो सकती है, इस अभिप्राय को वेद में स्थान स्थान पर स्पष्ट किया गया है, उदाहरणार्थ अथर्ववेद २० । ७६ । १ के निम्न मन्त्र को देखिये।

'इन्द्र क्रतुं आभर पिता पुत्रेभ्यो यथा । शिक्षाणो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ॥'

अ० २० । ७६ । १

जिस का अर्थ यह है कि हे (इन्द्र) ऐश्वर्य युक्त प्रभो! (पिता पुत्रेभ्यो यथा) जिस प्रकार पिता पुत्र को ज्ञान देता है इस प्रकार तू (नः) हमें (क्रतुम् आभर) उत्तम ज्ञान प्रदान कर। हे (पुरुहूत) अनेक विद्वानों द्वारा स्तुति किये गये परमेश्वर ! (अस्मिन् यामनि) इस समय (नः शिक्ष) हमें तू शिक्षा दे, ताकि हम (जीवाः) जीव (ज्योतिः अशीमहि) ज्योति को प्राप्त करें। तात्पर्य यह है कि परमेश्वर ही पिता माता के समान हमारे सब मनोरथों को पूर्ण करने वाला और ज्ञान देने वाला है, उसी की कृपा से हम दिव्य

ज्योति को प्राप्त कर सकते हैं।

इस समय तक जो ऊपर मन्त्र उद्धृत किए गए हैं, उन से दिव्य आनन्द तथा ज्योति को प्राप्त करना मनुष्य जीवन का ध्येय है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है; अब दिव्य शान्ति प्राप्त करने के विषय में एक दो वेद मन्त्र दे कर इस विषय का उपसंहार किया जायगा।

अथर्व १६ वें काण्ड का नवम सूक्त सम्पूर्ण इस विषय में द्रष्टव्य है, केवल दो मन्त्र यहां उद्धृत करना पर्याप्त है—

'शान्तानि पूर्वरूपाणि शान्तं नो अस्तु कृताकृतम्।
शान्तं भूत च भव्यं च सर्वमेव शमस्तु नः॥'
मं० २॥

अर्थात् (पूर्व रूपाणि) भावी परिवर्तन के पूर्व दिखाई देने वाले रूप (शांतानि सन्तु) शांति देने वाले हों, (नः कृताकृतम्) हमारे किये हुए और न किये हुये सब कर्म (शान्तम् अस्तु) शांति दायक हों (भूतं भव्यं च) भूत और भविष्य (शान्तम्) शांतियुक्त हो (सर्वम् एव) सभी कुछ (नः शम् अस्तु) हमारे लिये शांति दायक होवे। ऐसी अवस्था प्राप्त करनी चाहिये, जिससे भूत भविष्य वर्तमान में होने वाली कोई भी घटना वा पदार्थ हमारी शांति को भङ्ग करने वाला न हो सके, यह इस वेद मन्त्र का स्पष्ट अभिप्राय है। इसी सूक्त का अन्तिम मन्त्र

इस प्रकार है—

ओ३म् पृथिवी शांतिरापः शांतिरोषधयः शांतिर्वनस्पतयः शांतिर्विश्वे मे देवाः सर्वे मे देवाः शांतिः ताभि शांतिः शांतिः

ता शांतिभिः सर्वशांतिभिः शमयामोऽहं यदिह घोरं यदिह क्रूरं यदिह पापं तच्छिवं तच्छान्तं सर्वमेव शमस्तु नः ॥
अ० १६ । ६ । १४ ॥

इसका अर्थ यह है कि उन पृथ्वी जल वायु आदि की शांतिओं से, उन सब प्रकार की शांतिओं से, (शमयामः) हम सब कुछ शांत बनाते हैं अथवा (मोहं शमयामः) मोह को दूर करते हैं (यदिह घोरम्) जो कुछ इस संसार में भयंकर है (यत् इह क्रूरम्) जो कुछ यहां क्रूर है, (यत् इह पापम्) जो कुछ यहां पाप है वह सब (शान्तम्) शांत हो जाय (तत् शिवम्) वह सब अपनी भयङ्करतादि छोड़ कर शांतिदायक हो जावे। (सर्वम् एव) सब कुछ (नः शम् अस्तु) हमारे लिये शांतिदायक हो जावे। ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना के अतिरिक्त शुभ कर्मों का अनुष्ठान अथवा यज्ञ इस ध्येय तक पहुँचने का मुख्य साधन है। इस बात को दिखाने के लिये चारों वेदों में पाए जाने वाले पुरुष सूक्त के निम्न लिखित प्रसिद्ध वेदमन्त्र का उल्लेख करना पर्याप्त है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ॥
तेह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥
ऋ० १० । ८६ । १६; यजु० ३१ । १६ अथर्व० का० ७ । ५ । १

इस मन्त्र का सरल अर्थ यह है कि (देवा:) ज्ञानी लोगों ने (यज्ञेन) देव पूजा, संगति करण, और दान के द्वारा (यज्ञम्) पूजनीय परमेश्वर की (अजयन्त) पूजा की (तानि प्रथमानि धर्माणि आसन्) वही यज्ञ पद वाच्य देव पूजा अर्थात् विद्वानों वा ईश्वर का सत्कार, सङ्गति करण और दान सब से मुख्य धर्म हैं (महिमान:) महत्व युक्त (ते) वे देव (यत्र) जहां (पूर्वे साध्या:) पूर्व सिद्ध ज्ञानी जाते रहे हैं उसी (नाकं) दुःख रहित मोक्ष स्थान को (सचन्त) प्राप्त करते हैं।

यह शब्द, 'यज्-देव पूजा सङ्गति-करण-दानेषु' इस अर्थ वाली यज् धातु से बना है, अतः उसके उपयुक्त अर्थ के विषय में कोई विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती। मुख्यतः यज्ञ विधायक यजुर्वेद के १ म अध्याय के प्रथम मन्त्र के देवो वः प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे' ये शब्द यज्ञ का मुख्य अथ श्रेष्ठतम कर्म है इस बात की स्पष्ट सूचना दे रहे हैं। इस प्रकार वेद मन्त्रों के आधार पर विचार करने पर दिव्य शान्ति, दिव्य ज्योति और दिव्य आनन्द अथवा मोक्ष को प्राप्त करना ही मनुष्य जीवन का अन्तिम ध्येय होना चाहिए, यह बात स्पष्ट विदित होती है। इन तीनों शब्दों की थोड़ी सी व्याख्या कर देना आवश्यक है, ताकि वैदिक भाव स्पष्ट समझ में आ जाए। दिव्य शान्ति से अभिप्राय उस मानसिक वा आत्मिक शान्ति से है, जिस की प्राप्ति पर सुख दुःख, हानि लाभ, जय परा-

जय, शोक हर्ष, निन्दा स्तुति, मान अपमान इत्यादि सब द्वन्द्वों में मन समान रूप अथवा क्षोभ रहित रहता है। दिव्य ज्योति का तात्पर्य सर्व व्याप्त भगवान् की सत्ता को संसार के प्रत्येक पदार्थ और घटना में अनुभव करने का है और दिव्य आनन्द का आशय—

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ।

तैत्तिरीय उपनिषद् ३। ६ के इस वचन के अनुसार आनन्दमय भगवान् की अध्यक्षता में इस जगत् का सारा व्यवहार चल रहा है, यह समझते हुए सर्वदा आनन्दित रहने का है। दिव्य शक्ति की प्राप्ति भी जीवन का ध्येय है, जिस के विषय में विचार किया जायगा। इस तृतीय सिद्धांत के बारे में इतना ही पर्याप्त हैं।

चतुर्थ सिद्धान्त

आत्मौपम्य दृष्टि

आत्मा की अमरता के विषय में यहां विस्तार से विचार करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि यह अत्यन्त प्रसिद्ध सिद्धांत है। वेद में अग्नि, इन्द्र इत्यादि नामों से अनेक

स्थानों पर जीवात्मा का वर्णन आया है ! ऋ० मं० १ । १६४ के निम्न लिखित दो मन्त्र स्पष्ट जीवात्मा की शरीर से पृथक् सत्ता और अमरता का प्रतिपादन करने वाले हैं ।

जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना स योनिः ।'
ऋ० १ । १६४ । ३०

अर्थात् (जीवः) जीव (अमर्त्यः) अमर किन्तु (मर्त्येन) मरणशील नश्वर शरीर के (सयोनिः) साथ रहने वाला है, वह (मर्तस्य स्वधाभिः) मृत पुरुषादि प्राणियों की शक्तियों के साथ (चरति) विचरण करता है । आत्मा यद्यपि स्वयं अमर है, तथापि शरीर के अन्दर प्रवेश करना ही उस का जन्म कहा जाता है । इस शरीर के छूट जाने पर भी जीवात्मा नष्ट नहीं होता, किन्तु प्राणियों की शक्तियों और अच्छे बुरे कर्मों के साथ विचरण करता है । स्वधा शब्द का अर्थ स्वकीय धारणा शक्ति यह प्रसिद्ध ही है; यहां अभिप्राय कर्म से मालूम होता है । अगला मन्त्र जीवात्मा का और भी स्पष्ट वर्णन करता है, यथा—

'अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम् ।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ॥'
ऋ० १ । १६४ । ३१ ॥

ज्ञानी पुरुष के मुख से इस मन्त्र का उपदेश कराया गया है। (अनिपद्यमानम्) नष्ट न होने वाले अर्थात् अमर (आ च परा च) इधर उधर (पथिभिः चरन्तम्) अनेक मार्गों से भ्रमण करने वाले (गोपाम्) इंद्रियों के रक्षक वा राजा इस जीव को (अपश्यम्) मैंने देख लिया है। इस जीवात्मा का साक्षात्कार कर लिया है। (सः) वह जीवात्मा का (सध्रीचीः) अनुकूल अथवा सुखदायक (सः) वही (विषूचीः) प्रतिकूल योनियों को (वसानः) धारण करता हुआ (भुवनेषु अन्तः) लोकों के अन्दर (आवरीवर्ति) बार बार चक्कर लगाता है। भावार्थ यह है कि, जीवात्मा अमर और इंद्रियादि का अधिष्ठाता है वही अपने कर्मों के अनुसार भिन्न भिन्न योनियों में प्रवेश करता है। इस प्रकार शरीर के नष्ट होने पर भी जीवात्मा का नाश नहीं होता इस सिद्धांत को समझ लेने से मनुष्य का जीवन कितना उच्च हो सकता है इसकी कल्पना सुकरात, वीर हकीकत, ऋषि दयानन्द, स्वामी श्रद्धानन्द जी, महात्मा गान्धी, आदि धर्मवीरों के चरित्र पढ़ने से की जा सकती है।

यह इंद्र (जीव) ही शरीर रूपी जगत् का एक मात्र अधिष्ठाता है और इसके अन्दर काम क्रोधादि सब शत्रुओं को वश में करने की पूर्ण शक्ति विद्यमान है, इस बात को प्रमाणित करने के लिये निम्नलिखित मन्त्र उद्धृत किये जाते है—

"अहमस्मि सपत्नहा इंद्र इवारिष्टो अक्षतः ।
अधः सपत्ना मे पदोरिमे सर्वे अभिष्ठाताः ॥"

ऋ. १० । १६६ । २

यह मन्त्र आधिभौतिक अर्थ में समाज विघातक शत्रुओं और आध्यात्मिक अर्थ में आत्मा की शक्ति को क्षीण करने वाले काम क्रोधादि शत्रुओं को पूर्ण रूपसे वश में करने की शक्ति आत्मा के अन्दर है इस भाव को सूचित करता है। शब्दार्थ इस प्रकार है (अहम्) मैं आत्मा (सपत्न-हा) शत्रुओं का नाश करने वाला (अस्मि) हूँ, (इन्द्र इव) सर्वैश्वर्य युक्त परमेश्वर की तरह मैं भी (अरिष्टः) अमंगल रहित और (अक्षतः) रोगादि बाधा रहित हूं। (इमे सपत्नाः) ये सब काम क्रोधादि शत्रु (मे पदोः अधः) मेरे पैरों के नीचे (अभिष्ठिताः) खड़े हुए हैं, अर्थात् इन आन्तरिक और बाह्य शत्रुओं की कोई शक्ति नहीं कि वे मुझ आत्मा को अपनी अधिनता में रख सकें। क्षत्रिय बाह्य शत्रुओं का सामना करने के लिये अपने अन्दर इस प्रकार का साहस और आत्म विश्वास उत्पन्न करे, जिससे शत्रु उसका कुछ न बिगाड़ सकें, इस प्रकारके वेद मन्त्रों में मैं समझता हूँ, कि आध्यात्मिक और आधिभौतिक दोनों ही भाव अभिप्रेत हैं।

२. इस इन्द्र (जीव) की शक्ति के विषय में ऋ. १०।४८।५ का निम्न लिखित मन्त्र देखने योग्य हैं—

"अहमिन्द्रो न परा जिग्य इद्धनं न मृत्यवे अवतस्थे कदाचन॥"

यहां इन्द्र पद से ईश्वर और जव दोनों का ग्रहण है। जीव पक्ष में मन्त्र का अर्थ यह होगा कि, (अहम्) मैं (इन्द्र) ऐश्वर्य युक्त वा शक्तिशाली आत्मा हूं, मैं यह शरीर नहीं हूं, (धनं न परा जिग्ये) मैं अपने सामर्थ्य रूपी अमूल्य धन को नहीं खोऊंगा। मैं (मृत्यवे) मृत्यु के लिये (कदाचन) कभी

(न अवस्थे) नहीं खड़ा होता, अर्थात् मुक्त आत्मा की कभी मृत्यु नहीं हो सकती। इस प्रकार यहां आत्मा की अमरता तथा शरीर से पृथक् सत्ता का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है। अपने को शरीर से पृथक् समझते हुये अपनी दिव्य शक्ति की वृद्धि के लिये प्रत्येक व्यक्ति को सदा यत्न करना चाहिये यह इस मन्त्र का भावार्थ है।

३. इन्द्र (जीव) का इस गुप्त शक्ति को बढ़ाने के लिये आत्म विश्वास की बड़ी भारी आवश्यकता है, अतः वेद मन्त्रों में बार बार आत्मविश्वास वर्धक भावनाओं का निर्देश किया गया है; उदाहरणार्थ अथर्व १६। ५१ में इस भावना को धारण करने का उपदेश है—

अयुतोऽहमयुतो म आत्मायुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्रमयुतो।
मे प्राणोऽयुतो मे ऽपानोऽयुतामे व्यानोऽयुतोऽहं सर्व ॥'

जिसका अर्थ यह है कि (अहम्) मैं (अयुतः) सर्वथा अपराजित हूँ, मुझे काई दबा नही सकता, (मे आत्मा अयुतः) मेरी आत्मा विजयी स्वाधीन वा पराक्रमी है, किसी से दबने वाला नहीं है, (मे चक्षुः, श्रोत्रं, प्राणः, अपानः, व्यानः अयुताः) मेरे सब इन्द्रिय तथा प्राण शक्ति शाली हैं, (अयुतः अहं सर्वः) मैं सारे का सारा अयुत अर्थात् पराक्रमी, अदृश्य हूं, संसार की कोई शक्ति नहीं कि जो इस आत्मा को दबा कर रख सके, इस प्रकार की भावना धारण करने से ही आत्मिक दिव्य शक्ति का प्रकाश होता है। अपने को हीन दीन दुर्बल मानने और दिन रात निर्बलता के विचार रखने से आत्मा की शक्ति क्रमशः क्षीण हो जाती है, अतः वैसे अवैदिक भावों को धारण करना

सर्वथा अनुचित है। वेद में परमेश्वर को 'आत्मदा' और 'बलदा' (ऋ० १०। १२१। २) अर्थात् आत्मिक शक्ति और शारीरिक बल को देने वाला बताया गया है, और 'बलमसि बलं मयि धेहि' इत्यादि मन्त्रों द्वारा उसी से बल की प्रार्थना की गई है क्योंकि सम्पूर्ण शक्ति का स्रोत वही है। इस प्रकार वेद की दृष्टि में ईश्वर भक्ति और आत्मविश्वास से गुप्त आत्मिक दिव्य शक्ति की वृद्धि होती है, यह बात स्पष्ट हो जाती है।

अब सब प्राणियों में सुख दुख अनुभव करने वाले आत्मा की सत्ता को मानते हुये अपने समान उनके साथ व्यवहार करना चाहिये, इस सिद्धांत की पुष्टि में एक दो वेद मन्त्र उद्धृत करके अगले विषय को लेंगे। इस विषय में यजु० अ० ४० के ये दो मन्त्र विचारणीय हैं—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्व-भूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति॥

यजु० ४७। ६

अर्थात् (यः तु) जो तो (सर्वाणि भूतानि) सब भूतों को (आत्मन् एव) आत्मा – परमात्मा में ही (अनुपश्यति) देखता है, (सर्व भूतेषु च) और सब प्राणियों में (आत्मानम् अनुपश्यति) विद्यमान आत्मा को देखता है, (ततः) उस ज्ञान होने के पश्चात् (न विचिकित्सति) वह आत्मा की सत्ता में कभी सन्देह नहीं करता, अथवा 'विजुगुप्सतो' इस काण्व संहिता के पाठ को मानने पर वह सर्व भूतों में व्यापक एक परमात्मा को मानने वाला और सब प्राणियों में अपने ही समान सुख दुःख

का अनुभव करने वाला आत्मा विद्यमान है। इस बात को मानने वाला ज्ञानी कभी किसी से घृणा नहीं करता, यह वेद मन्त्र का स्पष्ट अभिप्राय है। अपने पेट को भरने के लिये निरपराध प्राणियों के गले पर छुरी चलाना तथा किसी को अस्पृश्यादि वेद की आज्ञा के स्पष्ट विरुद्ध है, यह इसी से ज्ञात हो सकता है।

दूसरा मन्त्र इस प्रकार है—

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

यजु० ४०। ७॥

इस मन्त्र के अर्थ के विषय में विचारकों के अन्दर मतभेद है, तथापि हमारे विचार में इस का अर्थ यह है, कि (यस्मिन्) जिस अवस्था विशेष में (विजानतः) ज्ञानी पुरुष की दृष्टि में (सर्वाणि भूतानि) सब प्राणी (आत्मा एव अभूत्) अपने आत्मा के ही समान हो जाते हैं, अर्थात् जब पुरुष अपनी आत्मा के समान सब के अन्दर समान रूप से आत्मा को जानते हुये सब के साथ प्रेम करने लगता है, (तत्र) उस अवस्था विशेष में (एकत्वम् अनुपश्यतः) सब प्राणियों में आत्म-दृष्टि से एकता को अनुभव करने वाले ज्ञानी के लिये (कः मोहः) मोह क्या और (कः शोकः) शोक क्या रह सकता है?

आत्मवत्सर्वभूतानि यः पश्यति स पण्डितः।

इस प्रसिद्ध उक्ति के अन्दर पाये जाने वाले तत्व का ही गुप्त रूप से इस वेद मन्त्र के अन्दर उपदेश किया गया है। इस

विषय में और कुछ लिखने की विशेष आवश्यकता नहीं । कर्तव्य शास्त्र अथवा जीवन की पवित्रता सम्पादन करने के साथ इस आत्मा की अमरता—आत्मौपम्य दृष्टि आदि विषयक सिद्धांत का कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है यह बात थोड़ी गम्भीरता से विचार करने पर स्पष्ट ज्ञात हो सकती है ।

पञ्चम सिद्धान्त

कर्म नियम ।

सर्वज्ञ परमेश्वर की अध्यक्षता में संसार के अन्दर जो अटल नियम कार्य कर रहे हैं, यह कर्म नियम उन्हीं में से एक है । परमेश्वर कर्म फल दाता है और जीव को अच्छे बुरे कर्मों का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है: इस बात का प्रतिपादन करने वाले वेद में सैंकड़ों मंत्र पाए जाते हैं, जिनमें से केवल दो तीन का निर्देश करना यहां पर्याप्त है । इन में से प्रथम ऋग्वेद मं. १ सू. १६४ का २० वां मंत्र है, जिसमें जीव ईश्वर की दो पक्षियों के रूप में कल्पना करते हुए यह कहा है कि—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्न्यो अभि चाकशीति ॥

अर्थात् (समाने वृक्षे) अनादि होने से समान प्रकृति रूपी वृक्ष पर (सयुजा) एक दूसरे से योग करने वाले [क्यों कि जीवा ईश्वर का सम्बन्ध व्याप्य व्यापक, उपासक उपास्य, पुत्र पित आदि का है] (सखायौ) परस्पर मित्ररूप (द्वा सुपर्णा) दो

पक्षी (परिषस्वजाते) मिलकर बैठते वा एक दूसरे का आलिङ्गन करते हैं। (तयोः अन्यः) उन दोनों में से एक पक्षी (जीवात्मा-रूपी) (स्वादु पिप्पलम् अत्ति) स्वादु फल का भोग करता है, (अन्यः) दूसरा ईश्वररूपी पक्षी (अनश्नन्) स्वयं भोग न करते हुए केवल (अभि चाकशीती) साक्षी बन के देखता रहता है। स्वादु फल यह यहां उपलक्षण मात्र है, बुरे कर्म का फल बुरा ही भोगना पड़ता है। मं० २२ में 'मध्वदः' यह जीवों का विशेषण और 'तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे' इन शब्दों द्वारा जीवोंके कर्मके अनुसार स्वादु मधुर और कटु फल चखनेका साफ तौर पर निर्देश किया गया है। अथर्व का० ४। १६ के कुछ मन्त्र पहले उद्धृत किये जा चुके हैं। दो एक और मन्त्र इस विषयमें अत्यन्त उपयोगी होने के कारण यहां उद्धृत किये जाते हैं—

" उत यो द्यामतिसर्पात्परस्तान्न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः।
दिवस्पशः प्रचरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम् ॥"
अ० ४। १६। ४

इस मन्त्र में आलङ्कारिक रूप में अटल कर्म नियम का वर्णन किया गया है। शब्दार्थ इस प्रकार है—

(उत यः द्याम् परस्तात् अति सर्पात्) जो द्युलोक के भी पार चला जाय वह भी (वरुणस्य राज्ञः) सर्वोत्तम ईश्वर के पाश वा राज्य से (न मुच्यातै) नहीं छूट सकता। (अस्य) इस परमेश्वर के (दिवस्पशः) दिव्य गुप्त चर (इद प्रचरन्ति) इस सारे लोक में विचरण करते हैं, (सहस्राक्षाः) सहस्र नेत्र रखने वाले के समान वे दिव्य गुप्त चर अथवा अटल कर्मादि विषयक

नियम (भूमिम् अति पश्यन्ति) पृथिवी का अच्छी प्रकार निरीक्षण करते हैं। वेद सर्वज्ञ भगवान् का काव्य है, अतः उसके वर्णन प्रायः कविता की दृष्टि से ही मान कर तात्पर्य समझना चाहिये, अन्यथा केवल शब्दार्थ समझने से कुछ काम नहीं चल सकता। यह बात स्पष्ट है कि ऊपर के मन्त्र में वरुण के गुप्तचरों से तात्पर्य किन्हीं फरिश्तों वा भूतों का नहीं अपितु विश्व व्यापक स्थिर कर्मादि नियमों का है। ये नियम समान रूपसे सर्वत्र भूलोक अन्तरिक्ष और द्यु लोक में कार्य कर रहे हैं, अभिप्राय यह है कि मनुष्य पहाड़ की चोटी पर हो, गुफाके अन्दर हो, अथवा समुद्र के बीच में हो कहीं भी अपने किये हुए अच्छे या बुरे कर्मों के फलसे वह छुटकारा पा नहीं सकता। वरुण के पाशों से भी वेद प्रायः इसी अटल नियम का वर्णन करता है, यथा इसी सूक्त के मं. ७ में—

" शतेन पाशैरभिधेहि वरुणैनं मा ते मोच्यनृतवाङ् नृचक्षः "

ये जो शब्द आये हैं इनका स्पष्टीकरण कर्म नियम के आधार पर ही किया जा सकता है। मन्त्र का अर्थ उस के अनुसार यह होगा कि, हे (नृचक्षः वरुण) मनुष्यों के कार्यों का निरीक्षण करने वाले सर्वोत्तम परमेश्वर! (एनं) इस पापी को (शतेन पाशैः) सैंकड़ों पाशों से (अभिधेहि) धारण करो अथवा बांध दो। (अनृत-वाक्) असत्य भाषण करने वाला पुरुष (ते) तेरे बन्धनों से (मा मोचि) न छूटे। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वेद में अनेक स्थानों पर स्पष्ट वा आलङ्कारिक रीतिसे कर्म नियम को स्वीकार किया गया है। परमेश्वर के लिये 'विधाता।

शब्द का प्रयोग प्रायः वेद में पाया जाता है, जिस का मुख्य अर्थ ही कर्म फल दाता है। जीव के कर्मों के अनुसार अच्छी बुरी योनियों में जाने का पहले वर्णन किया जा चुका है।

किन्तु इस विषय में एक संशय प्रायः उत्पन्न होता है। यदि सचमुच वेद के अनुसार किये हुए कर्म नाश किसी भी अवस्था में नहीं हो सकता, तो प्रार्थना करने की आवश्यकता क्या है? इस के उत्तर में निवेदन यह है कि प्रार्थना का उद्देश्य अपने अन्दर निरभिमानता तथा परमेश्वर को सहायक जानते हुए उत्साह पैदा करना है, न कि किये हुए पाप से छुटकारा पाना। जहां पाप से छुड़ाने की प्रार्थनाएं पाई जाती हैं, वहां भावी पाप से मुक्त कराने अथवा किये हुए पाप को फिर न करने का ही तात्पर्य समझना चाहिये। उदाहरणार्थ—

यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये।
यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे स्वाहा॥

यह यजुर्वेद के ३ य अध्याय का ४५ वां मंत्र है। इस के अन्दर ग्राम, अरण्य, सभा, इन्द्रिय आदि में (वयं यत् एनः चकृम) हम ने जो पाप किया है (तत् इदं) उस इस सारे पाप को (अवयजामहे) हम दूर करते हैं, अर्थात् भविष्य में न करने का निश्चय करते हैं ऐसा कहा है जो भावी

पाप से निवृत्ति का निर्देश करता है।

कृतं चिदेनः प्रमुमुग्ध्यस्मत् ।
राजन्नेनांसी शिश्रथः कृतानि ॥ ऋ० १ । २४

इत्यादि मंत्रों में यद्यपि ऊपर से किये गये कर्मों के फल से छुड़ाने का भाव प्रतीत होता है, पर गम्भीरता से थोड़ा विचार किया जाय तो उन के अन्दर भूत काल में अज्ञान से किये हुए पापों को फिर न करने का भाव ही प्रधान मालूम देने लगता है। इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास ने 'कर्म प्रधान विश्वरचि राखा, जो जस करहि तो तस फल चाखा' इन सुन्दर शब्दों में जिस कर्म नियम का प्रतिपादन किया है, वह वेद के अन्दर किस तरह पाया जाता है, यह संक्षेप से दिखाने के अनन्तर अब हम वैदिक कर्तव्य शास्त्र के छटे आधार भूत सिद्धांत पर प्रकाश डालने का यत्न करेंगे।

षष्ठ सिद्धांत

पाप निवृत्ति के लिये निश्चय

दिव्य ज्योति को प्राप्त करना वेद के अनुसार मनुष्य जीवन का एक मुख्य ध्येय है, यह तृतीय सिद्धांत की व्याख्या में दिखाया जा चुका है। इस विषय में अन्य प्रमाण उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं, तथापि अन्धकार से ज्योति की ओर जाने का प्रयत्न करना प्रत्येक व्यक्ति का मुख्य कर्तव्य

है, इस भावना को स्पष्ट करने के लिये ऋ० प्रथम मण्डल के ५० वें सूक्त के सुप्रसिद्ध दसवें मन्त्र का उल्लेख करना यहां अनुचित न होगा जो इस प्रकार है—

उद्वयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम् ।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ।

अर्थात् (वयं) हम सब (तमसः परि) अन्धकार से परे (उत्तरं ज्योतिः) श्रेष्ठ आत्मिक ज्योति को (उत् पश्यन्तः) भली प्रकार देखते हुए (देवं देवत्रा) सूर्यादि देवों के भी प्रकाशक (सूर्यम्) अन्धकार निवारक (उत्तमं ज्योतिः) सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर की ज्योति को (अगन्म) प्राप्त करें। प्रकृति अचेतन होने के कारण अन्धकारमय अवस्था में है, उस के अन्दर दिन रात मग्न रहना अर्थात् लौकिक विषयों का हर समय चिन्तन करते रहना, अपने को आध्यात्मिक अंधेरे के अन्दर रखना है। आत्मा चेतन होने के कारण एक विशेष ज्योति रखता है, अतः प्रकृति और उस के तत्वों से बने हुए इस शरीर के विचार से उठ कर आत्म तत्व का चिन्तन करना चाहिये और फिर सब ज्योतियों के आदिस्रोत सम्पूर्ण आत्मिक अंधकार को दूर करने वाले भगवान् का चिन्तन करना उचित है; जिस की ज्योति से सूर्य चन्द्रादि सब देव प्रकाशित हो रहे हैं—

तमेव भान्तमनु भाति सर्वं

तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। कठ० २।५।१५

इन्हीं शब्दों में कठ उपनिषद् ऊपर कहे हुए भाव को प्रकाशित करती है। वह ब्रह्म की ही ज्योति है जिस के विषय में उपनिषदों में लिखा है कि—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

मुण्डक० २।२।६

अर्थात् उस ब्रह्म के दर्शन करने पर हृदय की ग्रन्थि अथवा काम वासना और अविद्या सब नष्ट हो जाती है, सब सन्देह एक दम काफूर हो जाते हैं और बन्धन में डालने वाले सब कर्मों का क्षय हो जाता है। इस सर्वोत्कृष्ट ज्योति को प्राप्त करने का प्रत्येक व्यक्ति को अवश्य यत्न करना चाहिये।

'अमृत्व की प्राप्ति' मनुष्य जीवन के ध्येयों में से एक मुख्य ध्येय है, इस विषय के प्रमाणों को भी तृतीय सिद्धांत की व्याख्या करते हुए उद्धृत किया जा चुका है, तथापि इस विषय में यजुर्वेद के ३ य अध्याय का ६० वां मन्त्र द्रष्टव्य है जो निम्न प्रकार है—

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥

इस मन्त्र का अर्थ यह है कि हम सब (सुगन्धिम्) उत्तम

सुगन्धित पुष्पादि जिस ने बनाये हैं, ऐसे (पुष्टिवर्धनम्) पुष्टि की वृद्धि करने वाले पोषक (त्र्यम्बकम्) ज्ञान कर्म उपासना विधायक वेद जिस के नेत्र के समान दर्शन कराने का साधन है, अथवा तीनों लोकों के पिता और सर्वज्ञ परमेश्वर की (यजामहे) पूजा करते हैं। (उर्वारुकम्) फल विशेष (बन्धनात् इव) जैसे अपनी डारी से अलग होता है, वैसे मैं (मृत्योः मुक्षीय) मृत्यु से मुक्त होऊं, मृत्यु के बन्धन और भय से अपने को छुड़ा लूं; किन्तु (मा अमृतात्) अमृत्व से कभी न छूटूं। त्र्यम्बकम् के उक्त अर्थ के लिए आधार 'वेदत्रयी त्रिनेत्राणि' आदि स्कन्दपुराणद्युक्त बचन भी हैं। आध्यात्मिक अर्थ में मृत्यु और अमृत पदों के भाव को स्वयं ऋग्वेद में 'यस्य च्छाया अमृतं यस्य मृत्युः' इन शब्दों द्वारा स्पष्ट किया गया है, जिन का तात्पर्य यह है कि भगवान् की शरण में रहना अथवा दिन रात भगवान् के चिन्तन में तत्पर रहना और उस पर भरोसा रखना यही अमृत और उस से दूर रहना अथवा उस का क्षणिक विषयों का चिन्तन करना यही मृत्यु है। कठोपनिषत् २।४।२ में—

पराचः कामाननु संयन्ति बालास्ते
मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।

इन शब्दों के द्वारा इसी वैदिक भाव की व्याख्या की गई है, जिन का अर्थ यह है कि मूर्ख लोग क्षणिक बाह्य

विषयों के पीछे दौड़ कर अपने को मृत्यु के फैले हुए जाल में डालते हैं। इस प्रकार मृत्यु से अमृत की ओर जाने का अभिप्राय क्षणिक विषयों से स्थिर शाश्वत जीवेश्वरादि आध्यात्मिक विषयों के चिन्तन करने का है, यह स्पष्ट हो सकता है।

अब पाप से पुण्य मार्ग की ओर आने का यत्न करना चाहिये; इस भाव की थोड़ी सी व्याख्या करनी है। वास्तव में देखा जाय तो यही किसी भी कर्तव्य शास्त्र का आधार-भूत मुख्य सिद्धान्त है। इस विषय के स्पष्टीकरण के लिये निम्न लिखित तीन चार मन्त्रों पर विचार करना चाहिये।

१. परि माऽग्ने दुश्चरिताद्‌ बाधस्वा मा सुचरिते भज ॥
यजु० ४ । २८

अर्थात् हे (अग्ने) ज्ञान स्वरूप परमेश्वर (मा) मुझे (दुश्चरिताद्‌) दुष्ट चरित्र से (परि बाधस्व) दूर रखो और (मा सुचरिते भज) अच्छे चरित्र में मुझे सदा प्रीति युक्त करो। मैं सब दुष्ट व्यवहारों को त्याग कर उत्तम चरित्र वाला बनूं; यह इस मन्त्र का स्पष्ट भाव है।

२. ऋ० २ । २७ । ५ का निम्न मन्त्र भी उसी भाव का समर्थन करने वाला है। यथा—

युष्माकं मित्रावरुणा प्रणीतौ परि श्वभ्रेव, दुरितानि वृज्याम्।

अर्थात् (मित्रावरुणौ) मित्र दृष्टि से सब को देखने वाले श्रेष्ठ सज्जनों वा अध्यापक व उपदेशक लोगो ! (युष्माकं प्रणीतौ) तुम्हारे नेतृत्व में (श्वभ्रा इव) गर्त की तरह सब पापों का परित्याग करूं। इस मन्त्र में पाप की गर्त वा गढ़े के साथ जो उपमा दी गई है, वह बड़ी महत्व पूर्ण है । जो पुरुष श्रेष्ठ लोगों की संगति में रह कर उन के साथ उत्तम मार्ग पर चलता है वही अवनति की ओर ले जाने वाले सब पापों से अपने को शीघ्र मुक्त कर लेता है यह भाव मन्त्र के अन्दर सूचित किया गया है।

३. सामवेद पूर्वार्चिक ५ । १ । ७ में भी बड़ी उत्तमता से सब प्रकार के पाप और दुष्ट विचारों से दूर रहने की प्रार्थना की गई है, जो इस प्रकार है—

अपामीवामप स्रिधमपसेधत दुर्मतिम् ।
आदित्यासो युयोतना नो अंहसः ॥

अर्थात् (आदित्यासः) हे सूर्य के समान तेजस्वी महात्मा पुरुषो ! (अमीवाम् अप) रोग को हम से दूर करो (स्रिधम् अप) हिंसा के भाव को हम से दूर करो (दुर्मतिम्) दुष्ट बुद्धि वा हीन विचार को (अप सेधत) दूर भगाओ (नः) हमें (अंहसः) पाप से (युयोतन) दूर करो । न केवल बाह्य पाप किन्तु दुष्ट विचार, हिंसादि दुष्ट भाव तथा उन के परिणाम रोगादि से अपने को

महात्माओं के सङ्ग द्वारा दूर रखने का सुन्दर उपदेश इस साम के मन्त्र में पाया जाता है, जो बार बार मनन करने योग्य है।

पाप के पुण्यमार्ग की ओर आने में कई कठिनाइयां आजाती हैं। अनेक प्रकार के विघ्न बाधायें उपस्थित होती हैं अतः वेद मन्त्रों में इस विषयक दृढ़ निश्चय को अत्यावश्यक माना गया है। निम्नलिखित तीन चार मन्त्र इस विषय में विशेष द्रष्टव्य हैं—

यो नः पाप्मन्न जहासि तमु त्वा जहिमो वयम् ॥

अथर्व० ६। २६। २

अर्थात् (पाप्मन्) हे पाप (यः) जो तू (नः) हमें (न जहासि) नहीं छोड़ता (तं त्वा) उस तुझ को (वयं) हम (उ) निश्चय से (जहिमः) छोड़ देते हैं। एक बार जब पुरुष पाप के अन्दर फस जाता है तो उससे छुटकारा पाना कठिन हो जाता है। कई बार उस पाप का दास बन कर मनुष्य न चहते हुये भी बार बार पाप कर बैठता है किंतु दृढ़ निश्चय के द्वारा मनुष्य पाप पर विजय प्राप्त करने में अवश्य ही सफल होता है। गीता में अर्जुन का—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

भ० गी० ३। ६३॥

यह प्रश्न वेद मन्त्र के प्रथम भाग की ही एक प्रकार से प्रश्न रूप में व्याख्या है। दृढ़ निश्चय के सिवाय पाप को छोड़ने का और कोई उपाय नहीं, इस विषय में अथर्व ४। १७। ५ का निम्न मन्त्र देखिये—

दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वमराय्यः ।
दुर्णाम्नीः सर्वाः दुर्वाचस्ताः अस्मन्नाशयामसि ॥

अर्थात् (दौष्वप्न्यं) दुष्ट स्वप्न आना (दौर्जीवित्यं) दुष्ट जीवन व्यतीत करना (अभ्वं रक्षाः) बड़ा भारी राक्षसीय भाव (अराय्यः) अनैश्वर्य (दुर्णाम्नीः) दुष्ट नाम वाली (सर्वाः) सब (दुर्वाचः) दुष्ट वाणियां (ताः) उन सब को (अस्मत्) हम सब से (नाशयामसि) नाश करते हैं । 'अभ्वं रक्षः' से अभिप्राय स्वार्थ भाव से मालूम होता है जो राक्षसी प्रकृति के लोगों का विशेष चिन्ह है । जागृत् स्वप्न दशा में तथा शरीर मन वाणी के द्वारा किसी भी प्रकार के पाप को न करने का और जो पाप हो चुके हैं उनको भविष्य में न होने देने का निश्चय करना, यह इस वेद मन्त्र का तात्पर्य है जो निःसन्देह अत्युत्तम है । पहले दिखाया जा चुका है कि मनुष्य के आत्मा के अन्दर दिव्य शक्ति विद्यमान है उस दिव्य शक्ति को प्रयोग में लाते हुये प्रत्येक व्यक्ति को पाप पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये । आलस्य प्रमाद के कारण उत्तम ऐश्वर्य से वञ्चित रहना भी एक बड़ा भारी पाप है । मानसिक दुष्ट विचार ही पहले पहल मनुष्य को पाप में प्रवृत्त कराते हैं, अतः जब मन के अन्दर दुष्ट विचारों का उदय हो उसी समय मन को वेद के शब्दों में यों कहना चाहिये ।

परोपेहि मनोस्पापः किमशस्तानि शंससि ।
परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि संचर
गृहेषु गोषु मे मनः ॥ अ० ६ । ४५ । १ ॥

अर्थात् (पाप मनः) हे पापी मन (परा उपेहि) तू दूर भाग जा। (किम् अशस्तानि शंससि) तू क्यों मुझे बुरी बातों का उपदेश करता है (परेहि) भाग जा दूर भाग जा (न त्वा कामये) मैं तुझे नहीं चाहता। तू चला जा (वृक्षां वनानि संचर) वृक्ष और वनों के अन्दर जाकर तू संचार कर, यहां तेरे लिये कोई स्थान नहीं (मे मनः) मेरा मन (गृहेषु) घर के व्यापारों में और (गोषु) गोरक्षादि विषयक विचारों में लगा हुआ है अतः उसमें तुझ पाप के प्रवेश का कोई द्वार नहीं है। इस मन्त्र का भाव कितना उत्तम है यह प्रत्येक विचार शील व्यक्ति स्वयं जान सकता है। इस प्रकार दृढ़ निश्चय के द्वारा आत्मा की प्रेरणा से पाप से पुण्य मार्ग की ओर आकर अपने जीवन को पवित्र बनाने का प्रत्येक व्यक्ति को यत्न करना चाहिये यह वेद मन्त्रों का स्पष्ट अभिप्राय है।

सप्तम सिद्धांत

सम विकास

शारीरिक मानसिक तथा आत्मिक शक्तियों का सम विकास होना चाहिये यह वैदिक कर्तव्य शास्त्र का अत्यावश्यक सिद्धांत है। वेद के अनुसार यह समविकास ही उन्नति का मूल मन्त्र है। इस सिद्धांत को भलि भांति समझने के लिये निम्न लिखित वेद मन्त्रों का मनन करना चाहिये।

सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सं शिवेन।
त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद् विलिष्टम्॥
यजु० २। २४॥

अर्थात् हम सब (वर्चसा सम् अगन्महि) तेज से संयुक्त हों (पयसा सम्) बल दायक दुग्धादि रस से संयुक्त हों (तनूभिः सम्) उत्तम पुष्ट शरीरों से और (शिवेन मनसा) शुभ विचार करने वाले मन से (सम् अगन्महि) संयुक्त हों (सुदत्रः) उत्तम दान शील (त्वष्टा) प्रजापति परमेश्वर (रायः विदधातु) हमारे अन्दर सब तरह का ऐश्वर्य धारण करे (तन्वः) शरीर की (यद् विलिष्टम्) जो न्यूनता वा दोष है उसे (अनुमार्ष्टु) वह दूर करे अथवा निर्मल बनाए। इस मन्त्र के अन्दर जो यजुर्वेद में थोड़े थोड़े पाठ भेद से दो तीन स्थानों पर आया है, शारीरिक तथा मानसिक शक्तियोंके सम विकास का भाव बहुत स्पष्ट हैं। मनके साथ बुद्धि चित्तादि की शक्तियों के विकास के विषय में निम्न मन्त्र द्रष्टव्य है—

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये।
मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम् ॥

अथर्व० ६ । ४१ । १

(वयम्) हम सब (मनसे) मन के लिये (चेतसे) चित्त के लिये (धिये) बुद्धि के लिये (आकूतये) शुभ संकल्प के लिये (उत) और (चित्तये) ज्ञान के लिये (मत्यै) मनन के लिये (श्रुताय) श्रवण के लिये (चक्षसे) दर्शनादि शक्तियों के विकास के लिये (हविषा) भक्ति द्वारा (विधेम) भगवान् की आराधना करें। तात्पर्य यह है कि भक्ति इत्यादि के द्वारा मन बुद्धि चित्त इन्द्रिय आदि की संपूर्ण शक्तियों का समान रूप से विकसित करने का अवश्य प्रयत्न करना चाहिये।

यजु० १४ । १७ भी वेदोक्त समविकास के प्रदर्शन के लिये यहां उद्धृत किया जाता है, जो इस प्रकार है—

आयुर्मे पाहि प्राणं पाह्यपानं मे पाहि चक्षुर्मे पाहि श्रोत्रं मे पाहि वाचं मे पाहि मनो मे जिन्वात्मानं मे पाहि ज्योतिर्मे यच्छ ।

इस मन्त्र के अन्दर परमेश्वरसे आयु प्राण अपान मन और वाणी आदि के साथ मन और आत्मा की रक्षा तथा तृप्ति वा शक्ति वृद्धि के लिये प्रार्थना की गई है, जिस का तात्पर्य यही है कि भगवान् की कृपासे हम सब अपनी इन्द्रियों तथा मन आत्मा की सब प्रकार के पापों और दुर्व्यसनों से रक्षा करते हुए उनकी शक्तियों के विकास में समर्थ हो सकें क्योंकि यह बात स्पष्ट है कि दुरुपयोग करने से इन्द्रिय मन तथा आत्मा की शक्तियां क्षीण होती हैं ।

यजु० ६ । १५ का भी इस सम विकास के सम्बन्ध में उपदेश अत्यन्त स्पष्ट है अतः उसका उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है । यह गुरु की शिष्य के प्रति उक्ति है—

मनस्त आप्यायतां वाक्त आप्यायतां प्राणस्त आप्यायतां चक्षुस्त आप्यायतां श्रोत्रं त आप्यायताम् ॥

अर्थात् हे शिष्य [ते मनः] तेरा मन [आप्यायताम्] वृद्धि को प्राप्त होवे । [ते वाक्] तेरी वाणी वृद्धिको प्राप्त होवे । (प्राणः चक्षुः श्रोत्रं ते आप्यायताम्) तेरे प्राण तथा आंख कान आदि इन्द्रियां सब वृद्धि को प्राप्त होवें । अर्थात् मन इन्द्रिय वाणी आदि की शक्तियों का विकास ही शिक्षा का मुख्य एक उद्देश्य है । वेद के इसी मन्त्र को लेकर केनोपनिषत् के प्रारम्भ में—

'आप्यायन्तु ममाङ्गानी वाक् प्राणश्चक्षुःश्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि' इत्यादि मन्त्र की रचना की गई है। इस में मानसिक आत्मिक और शारीरिक बल की साथ साथ वृद्धि का भाव बिलकुल स्पष्ट है। यजु० अ० ३६ के सुप्रसिद्ध २ य मन्त्र—

यन्मे छिद्रं चक्षुषोर्हृदयस्य मनसो वाति तृण्णम्।

बृहस्पतिर्मे तद् दधातु

इत्यादि में भी चक्षुरादि इन्द्रियों तथा मन और हृदय सम्बन्धी सब दोषों को दूर कर के उन की शक्तियों को सम रूप से विकसित करने का भाव पाया जाता है। आत्मा की शक्तियों के विकास के सम्बंध में पहले कई वेद मंत्रों का उल्लेख किया जा चुका है, अतः यहां फिरसे उस विषय के प्रमाण उपस्थित करने की विशेष आवश्यकता नहीं। निम्न लिखित प्रसिद्ध वेद मन्त्र शारीरिक शक्ति के विकास के विषय में विशेष रूपसे प्रार्थना करते हुए आत्मा के भी सर्वदा उत्साह पूर्ण रखने का स्पष्ट निर्देश करता है। अतः उसका यहां उल्लेख करना जरुरी है। मन्त्र इस प्रकार है—

वाङ्म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः।
अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम्।
ऊर्वोरोजो जंघयोर्जवः पादयोः प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे
सर्वात्मनिभृष्टः॥ अथर्व० १६। ६०। १-२

इस मन्त्र में वाणी, नासिका, आंख, कान, दांत, बाहु, जंघा, ऊरु, पैर, इत्यादि की शक्तियां सदा स्थिर रहें, मेरे सब अंग नीरोग हों, यह प्रार्थना करते हुए 'आत्मा अनिभृष्टः' ऐसी प्रार्थना

की गई है जिसका अर्थ यह है, कि मेरा आत्मा उत्साही बना रहे। आत्मा को सदा उत्साही बना कर रखने से ही उस की शक्तियों का विकास हो सकता है, यह बात अत्यन्त स्पष्ट है, अतः इस की व्याख्या करना सर्वथा अनावश्यक है। इस तरह शारीरिक मानसिक तथा आत्मिक शक्तियों के विकास के लिये दिन रात यत्न करना प्रत्येक व्यक्ति का प्रधान कर्तव्त है, यह बात निर्विवाद है।

अष्टम सिद्धान्त

व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध

सर्वज्ञ परमेश्वर की अध्यक्षतामें कुछ व्यापक अटल नियम कार्य कर रहे हैं, और उनको समझ कर उनके अनुसार चलने से ही मनुष्य का कल्याण हो सकता है, यह पहले बताया जा चुका है। इन अटल नियमों की सत्ता सिद्ध करने के लिये—

'अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि' ऋ० १। २४। १०

तथा "त्वं हि कं पर्वते न श्रितान्यप्रच्युतानि दूलभ व्रतानि" ऋ० २। २८। ८

आदि अन्य भी वेद मन्त्र उद्धृत किये जा सकते हैं, किन्तु विस्तार के भय से उनको यहां लिखना अनावश्यक है। यह बात वैदिक भाव को समझने के लिये अच्छी तरह ज्ञान लेनी चाहिए कि, ये नियम व्यक्ति समाज तथा राष्ट्र में समान रूप से कार्य कर रहे हैं। उदाहरणार्थ जैसे एक व्यक्ति को किये हुए अच्छे वा बुरे कर्म का फल किसी न किसी रूप में अवश्य ही मिलता है, उसी प्रकार समाज और राष्ट्र को भी अच्छे बुरे कार्यों का

परिणाम अवश्य ही भोगना पड़ता है। जब ये सामाजिक और राष्ट्रीय पाप बहुत बढ़ जाते हैं, अर्थात् जब लोग मोह मायामें फँस कर स्वार्थ साधन में दिन रात तत्पर हो जाते हैं, और धन मान के मद से मस्त हो कर, दीनों की सहायता तथा पतित जनोद्धार रूपी कर्तव्य के पालन से भी मुँह मोड़ बैठते हैं, तो उस समय प्रायः भयङ्कर व्यापी रोग भूकम्प, जलपूर (बाढ़) आदि के रूप में भगवान् की ओर से उन्हीं अपने राष्ट्रीय पापों का पुरस्कार मिलता है, ता कि मनुष्य सावधान हो कर पुनः धर्म मार्ग पर चलने का निश्चय कर लें। इसी प्रकार—

"सत्यमेव जयते नानृतम्" मुण्डक० ३ । १ । ५

इत्यादि उपनीषदों में प्रकाशित विश्वव्यापक नियम व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तीनों पर समान रूप से लागू हैं। ऐसे ही अन्य नियमों को समझना चाहिये। इस प्रकार अटल विश्वव्यापक नियमों का समझने से व्यक्ति, समाज और राष्ट्र तीनों अपने को सब तरह के पापों, दुर्व्यसनों और अत्याचारों से बचा सकते हैं। व्यक्ति समाज का एक अङ्ग है। समाज की सेवा करना यही व्यक्ति का मुख्य कर्तव्य है। उस सेवा के योग्य अपने को बनाने के लिये शारीरिक, मानसिक, आत्मिक शक्तियों का विकास प्रत्येक व्यक्ति को अवश्य करना चाहिये। यह समझना कि वैदिक आदर्श अथवा उपनिषदादि प्राचिन ग्रन्थों में एक व्यक्ति के लिये वर्णित आदर्श केवल अपनी ही उन्नति अथवा वैयक्तिक शान्ति सम्पादन करना है, यह बड़ी भूल है। केवल ज्ञान द्वारा ही मोक्ष लाभ होता है और ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर सब कर्मों का परित्याग कर देना चाहिये क्यों कि अच्छे बुरे सभी कर्म बन्धन में डालने वाले हैं, यह भाव जो मायावाद वा

नवीन वेदांत के ग्रन्थों में पाया जाता है, वस्तुतः अवैदिक है। भगवद् गीता का अभिप्राय इस विषय में स्पष्ट है कि—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वंति भारत।
कुर्याद् विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षु र्लोकसंग्रहम्॥
भ० अ० ३। २५

अर्थात् अज्ञानी पुरुष आसक्ति पूर्वक जैसे कार्य करते हैं, वैसे ज्ञानी को निष्काम भाव से केवल लोकसंग्रह अर्थात् लोगों का सन्मार्ग पर लाने के लिये कार्य अवश्य ही करने चाहिए। उपनिषदों में ब्रह्मज्ञानी दशा का वर्णन करते हुये अनेक स्थानों पर 'क्रियावान्' यह उसका विशेषण आया है तथा मुण्डकोपनिषद् में—

आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेश ब्रह्मविदां वरिष्ठः। ३।१।४

क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः मुण्डक ३।२।१०

इत्यादि वाक्य पाये जाते हैं- जो स्पष्ट इस बात को प्रमाणित करते हैं, कि ज्ञान प्राप्त कर लेने पर सब कर्मों का परित्याग करके जङ्गल में समाधि लगा कर बैठ जाना यही वैदिक आदर्श नही। समदृष्टि को धारण करते हुए समाज सेवा अथवा लोकोपकार करना यह प्रत्येक ज्ञानी का कर्तव्य है। इस बात को स्पष्ट करने के लिये भगवद् गीता में—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥ भ०गी०अ०।५।२५

इत्यादि अनेक श्लोक कहे गये हैं। अब इस विषय में वेद का अभिप्राय को देखना है। निम्नलिखित मन्त्र इस विषय पर प्रकाश डाल सकते हैं—

प्र सुमेधा गातुविद् विश्वदेवः सोमः पुनानः सद एति नित्यम्।
भुवद् विश्वेषु काव्येषु रन्तानु जनान् यतते पञ्च धीरः॥

ऋ० ९ । ९२ । ३

अर्थात् (सुमेधाः) अच्छी बुद्धि वाला (गातु वित्) भूमि वा देश की अवस्था को जानने वाला (विश्वदेवः) सबसे प्रसन्नता पूर्वक व्यवहार करने वाला (सोमः) सौम्य गुण युक्त पुरुष (पुनानः) अपने सङ्ग से सबको पवित्र करता हुआ (नित्यम्) सदा (सदः प्र एति) सभा में आता है। यह (धीरः) धैर्य युक्त पुरुष (विश्वेषु काव्येषु) सब काव्यों में (रन्ता भुवद्) रमण करने वाला होता है, अर्थात् सब उत्तम ग्रन्थों का अच्छी प्रकार वह स्वाध्याय करता है। सब कवियों की बातों को ध्यान से विचारता है और फिर (पञ्च जनान् अनु) ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र निषाद इन पांचों प्रकार के लोगों से बने हुये मनुष्य समाज के हित के लिये (यतते) यत्न करता है। गातु शब्द का पृथिवी यह अर्थ निघटु में दिया ही है, विश्व देव शब्द में दिव् धातु का व्यवहार अथवा मोद यह अर्थ लेकर सबसे प्रसन्नता पूर्वक व्यवहार करने वाला यह अर्थ सर्वथा सम्भव है। इसलिये सारे मंत्र का अभिप्राय यह होगा कि, प्रत्येक बुद्धिमान् का यह कर्तव्य है कि वह अपने देश की यथार्थ अवस्था को जान कर, सब विचारकों तथा ज्ञानियों के ग्रन्थों को पढ़ कर धैर्य पूर्वक सारे मनुष्य समाज के हित के लिये प्रयत्न करे और इस उद्देश्य से सभा समितियों की योजना करे, ताकि दृढ़ संगठन होकर समाज का कल्याण हो सके। यह मन्त्र बड़े ही गम्भीर और महत्व पूर्ण भाव को लिये हुये है।

२. यजु० के अन्तिम ४० वें अध्याय में—

अन्धंतमः प्रविशन्ति ये ऽसम्भूतिमुपासते। मंत्र ६

इस वाक्य के द्वारा असम्भूति अर्थात् केवल वैयक्तिक उन्नति में सन्तुष्ट रह कर परोपकारार्थ कार्य न करने वालों की स्पष्ट हीन गति बताई है, जिस से स्पष्ट भाव निकलता है कि केवल वैयक्तिक उन्नति से सन्तुष्ट होना वैदिक आशय के प्रतिकूल है।

३. अथर्व० ११ वें काण्ड के पञ्चम सूक्त में जो ब्रह्मचर्य सूक्त के नाम से प्रसिद्ध है प्रायः सब के सब मन्त्र इस भाव की पुष्टि करने वाले हैं कि ब्रह्मचर्य तप इत्यादि के द्वारा अपनी शक्तियों को विकसित कर के लोकोपकार में अपने को समर्पित कर देना चाहिये। उदाहरणार्थ मन्त्र १ में कहा है—'स दाधार पृथिवीं दिवं च'

वह ब्रह्मचारी द्युलोक और पृथिवी लोक का धारण करता है। मन्त्र ४ में कहा है—

ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति।

अर्थात् ब्रह्मचारी अपनी (समिधा) दीप्ति वा तेज से मेखला श्रम और तप के द्वारा (लोकान् पिपर्ति) सब लोकों को तृप्त करता है अथवा लोक का उद्धार करता है। मन्त्र ५ में फिर कहा है—

स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं
लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत्॥

अर्थात् वह ब्रह्मचारी व्रत समाप्ति के अनन्तर एक समुद्र से दूसरे समुद्र तक जाता है, अथवा देश देशान्तर में भ्रमण करता है और (लोकान् संगृभ्य) लोक संग्रह करके अर्थात् लोगों को सन्मार्ग पर लाकर (मुहुः) फिर भी बार बार (आचरिक्रत्) शुभ कार्य करता रहता है। इस मंत्र में आये हुये 'लोकान्' संगृभ्य मुहुराचरिक्रत्' इन शब्दों की गीता के पूर्वोद्धृत लोकसंग्रह विषयक श्लोक के साथ तुलना करनी चाहिये। मं० २२—

पृथक् सर्वे प्राजापत्याः प्राणानात्मसु बिभ्रति।
तान् सर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम्॥

इत्यादि मन्त्रों के अन्दर भी ब्रह्मचर्य द्वारा शक्ति संचय करके प्राजापत्य अर्थात् प्रजापति परमेश्वर के पुत्र सब मनुष्य मात्र के कल्याण और रक्षा के लिये यत्न करना प्रत्येक विद्वान् का कर्तव्य है, यह भाव स्पष्टतया सूचित होता है।

४. ऋषि मुनि लोगों को भी योग साधनादि द्वारा अपने अन्दर दिव्य शक्ति सम्पादन करते हुए जनता में राष्ट्रीय भावों की वृद्धि तथा अन्य शुभ भावों के प्रचार के लिये अपने जीवन को लगा देना चाहिये यह आशय अथर्व० १९। ४१ के सुप्रसिद्ध मन्त्र

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु॥

के अन्दर प्रकट किया गया है। मन्त्र का सीधा अर्थ यह है कि (भद्रमिच्छन्तः) सुख और कल्याण की इच्छा करते हुए (स्वर्विदः) सुख के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले (ऋषयः) ऋषि लोगों ने (अग्रे) पहले (तपः दीक्षाम् उपनिषेदुः) तप

और दीक्षा का अनुष्ठान किया। (ततः) उस तप और दीक्षा करने के पश्चात् (राष्ट्रं) राष्ट्रीयता भाव (बलम्) बल और (ओजः) सामर्थ्य (जातम्) प्रकट हुआ (तत्) इस लिये (देवाः) विद्वान् लोग (अस्मै) इस राष्ट्रीयता के भाव के लिये (उप संनमन्तु) सिर झुकाएं, अर्थात् इस भाव का सत्कार करें। तात्पर्य यह है कि ऋषि लोग जो तप दीक्षादि अथवा योग साधन करते हैं, वह स्वयं उद्देश्य नहीं किंतु दिव्य शक्ति सम्पादन करने का साधन है, जिस को राष्ट्र तथा जगत् के कल्याण के लिये उपयोग करना चाहिये। इस विषय में यहां इतना ही कथन पर्याप्त है, क्योंकि सामाजिक कर्तव्यों का आगे संक्षेप से विवरण किया जाएगा। इतने वर्णन से यह बात स्पष्ट हो गई कि, व्यक्ति का मुख्य कर्तव्य अपनी शक्तियों को विकसित करते हुए समाज सेवा तथा लोकोपकार के लिये लगा देना यही वैदिक भाव है।

नवम सिद्धांत

स्वतन्त्रता संरक्षण

मनु भगवान ने अपने धर्मशास्त्र में सुख दुःख का लक्षण करते हुये कहा है कि—

सर्वं परवश दुखं, सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद् विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः॥ ४।१६०

जिसका अर्थ यह है कि पराधीनता दुःख है और स्वतन्त्रता सुख है। व्यक्ति के शरीर में जब सब इन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त, आदि आत्मा के वश में रहते हैं, तभी स्थिर सुख और शांति का

अनुभव उसे होता है। जब इन्द्रियां इस शरीर पर अधिकार जमा लेती हैं, जब शरीर रथ का अधिष्ठाता आत्मा और बुद्धि रूपी सारथि, इन्द्रिय रूप घोड़ों के पीछे पीछे चलने लगते हैं, तब तब मन की लगाम को छुड़वा कर इन्द्रिय अश्व आत्मा को गढ़े में जाकर गिरा देते हैं, जहां से उसका फिर निकलना तक कठिन हो जाता है। यहीं पर अर्थात् इन्द्रियों की अधीनता ही सब आपत्तियों का मूल है। इन्द्र (जीवात्मा) के अपने दास इन इन्द्रियों के दास बनते ही मनुष्य पर आपत्तियां का पहाड़ टूट पड़ता है, अतः अपनी स्वाधीनता का संरक्षण करना सुख की प्राप्ति के लिये अत्यावश्यक है। 'इन्द्रियाणि पराण्याहुः' ३।४२ इत्यादि भगवद्गीता के वाक्यों से पराधीनता का उपर्युक्त अभिप्राय स्पष्ट होता है। मनुस्मृति में—

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वराज्यमधिगच्छति॥

मनु० १२।९१

इत्यादि श्लोकों में स्वराज्य शब्द का उपर्युक्त आध्यात्मिक अर्थ में प्रयोग किया गया है। इसलिये वेद के अन्दर जहां स्वराज्य शब्द आया है और उसकी प्राप्ति के लिये यत्न करना चाहिये ऐसा उपदेश किया गया है, वहां आध्यात्मिक और बाह्य दोनों अर्थों में उसका ग्रहण करना चाहिये उदाहरणार्थ—

आ यद् वामीय चक्षसा मित्र वयं च सूरयः।
व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये॥

ऋ० ५।६६।६

इस मन्त्र में (ईयचक्षसा) हे व्यापक दृष्टि वाले (वाम्) तुम दोनों राजा प्रजा, गुरू, शिष्य, पिता पुत्र आदि (मित्र) मित्र भाव से बर्तने वाले (वयं च सूरयः) हम सब विद्वान् (व्यचिष्टे) व्यापक उदारता के भाव से युक्त (बहुपाय्ये) बहुत से पुरुष मिलकर जिसकी रक्षा कर सकते हैं, ऐसे (स्वराज्ये) स्वराज्य की प्राप्ति के लिये (यतेमहि) हम सब यत्न करें, यह आधिभौतिक अथवा बाह्य अर्थ में स्वराज्य शब्द का अर्थ ले कर भाव निकलता है। आध्यात्मिक अर्थ में 'बहुपाय्ये' का अर्थ 'बहुभिः पाय्ये' के स्थान में बहु अत्यन्त पाय्ये रक्षणीये ऐसा समास बदल कर अत्यन्त रक्षणीये आत्मिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिये हम सब प्रयत्न करें, यह अभिप्राय हो सकता है। वेद इन स्वतन्त्रता के भावों से भरा हुआ है। वेद के अनुसार अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिये प्रत्येक व्यक्ति और समाज को अवश्य ही यत्न करना चाहिये। निम्नलिखित मंत्रों का इस दृष्टि से मनन करना चाहिये—

यो नः सोम सुशंसिनो दुःशंस आदिदेशति।
वज्रेणास्य मुखं जहि स सपिष्टो अपायति॥
अथर्व० ६।६।२

अर्थात् (सोम) ऐश्वर्य युक्त (षुञ्-प्रसवैश्वर्ययोः) राजन् अथवा परमेश्वर (यः) जो (दुःशंसः) दुष्ट भाव वाला पुरुष (सुशंसिनः नः) अच्छे भाव युक्त हम सज्जनों को (आदिदेशति) अपने आदेश में या आधीनता में रखना चाहता है (अस्य मुखम्) इस नीच के मुख को (वज्रेण जहि) वज्र से काट डालो

(सः) वह नीच (सम्पिष्टः) चूर चूर होकर (अपायति) नष्ट हो जाए। यहां यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि दुःशसः यह एक वचन है 'सुशंसिनः' बहुवचन है। जो एक नीच पुरुष सज्जनों पर शासन चलाना चाहता है, सज्जनों का कर्तव्य है कि राजा की सहायता से उसका नाश करदें ताकि उनकी स्वतन्त्रता बनी रहे।

२. ऋ० २। २३। १० में—

मा नो दुःशसो अभिदिप्सुरीशत
प्र सुशंसा मतिभिस्तारिषीमहि ॥

यह मन्त्र आया है, जो पूर्वोक्त भाव का ही द्योतक है। (दुशंस) दुष्ट भाव वाला (अभिदिप्सुः) लोभी पुरुष (नः) हमारे ऊपर (मा ईशत) कभी शासन न करे, (सुशंसः) अच्छे भावों से युक्त हम (मतिभिः) अपनी बुद्धि से (प्रतारिषीमहि) सब दुःखों से तर जांए। यहां भी वही स्वतन्त्रता का भाव स्पष्ट प्रकट होता है।

३. ऋ० ६। ६७। १३-१४ में आदित्य ब्रह्मचारियों से जो प्रार्थना की गई है वह भी इस विषय में देखने योग्य है यथा—

यो मूर्धानः क्षितीनामदब्धासः स्वयशसः।
व्रता रक्षन्ते अद्रुहः ॥
ते न आस्नो वृकाणामादित्यासो मुमोचत।
स्तेनं बद्धमिवादिते ॥ १४ ॥

(ये अदित्यासः) जो आदित्य के समान तेजस्वी पुरुष (क्षितीनां मूर्धानः) मनुष्यों के शिरोमणि (अदब्धासः) किसी से न दबने वाले (स्वयशसः) यशस्वी (अद्रुहः द्रोह रहित

हो कर (व्रता रक्षन्ते) शुभ कर्मों का संरक्षण करते हैं (ते) वे सब तेजस्वी पुरुष (नः) हम सबको (वृकाणाम्) पापियों के (आस्नः) मुख से (मुमोचत) छुड़ाएं। इन मन्त्रों पर विचार करने से मालूम होता है कि यह भी आध्यात्मिक आधिभौतिक अथवा आन्तरिक बाह्य दोनों प्रकार के बन्धनों से छुटाने की प्रार्थना है। क्षितिका अर्थ निघण्टु में मनुष्य दिया है। वृक के अर्थ पाप और पापी दोनों ही हो सकते हैं।

अथर्व वेद के सुप्रसिद्ध पृथिवी सूक्त के निम्न लिखित मन्त्र का उल्लेख करना भी यहां अत्यावश्यक जान पड़ता है—

या नो द्वेषत्पृथिवि यः पृतन्याद् योऽभिदासान्मनसा यो वधेन।
तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि॥ अ० १२। १। १४

अर्थात् (पृथिवि) हे मातृभूमे (यः) जो पुरुष (नः) हमारे साथ (द्वेषत्) द्वेष करता है (यः) जो (पृतन्यात्) सेना ले कर हमारे ऊपर हमला करता है (यः) मनसा अभिदासात्) जो मन से हमें दास बनाने का विचार करता है (यो वधेन) जो शस्त्र के द्वारा हमारा वध करना चाहता है (तं) उस पुरुष को (नः) हमारे लिये अर्थात् हम सब सज्जनों के हित के लिये (रन्धय) नाश कर दो। तात्पर्य यह है कि सब मातृभूमी के भक्तों को अपनी स्वतन्त्रता का संरक्षण करना चाहिये। कभी अपने को दासता में नहीं पड़ने देना चाहिये। किसी भी पुरुष को दासता में रहना अनुचित है, चाहे वह अपने देशका हो वा दूसरे का, चाहे वह अपना हो वा पराया, इस भाव को अथर्व० ६। ५४। ३। में देखिये कितने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

५. सबन्धुश्चासबन्धुश्च, यो अस्मां अभिदासति ।
सर्वं तं रन्धयासि मे यजमानाय सुन्वते ॥

अर्थात् हे इन्द्र शक्ति शाली पुरुष (सबन्धुश्च) अपने कुल का आदमी (असबन्धुश्च) अथवा दूसरा कोई भी पुरुष (यः) जो (अस्मान्) हमें (अभि-दासति) दास बनाता है (तं सर्वं) उस सब को (सुन्वते यजमानाय मे) अग्नि-होत्रादि शुभ कर्म करने वाले मेरे कल्याण के लिये (रन्ध-यासि) तू नष्ट कर दे। इस प्रकार स्वतन्त्र हो कर विचरण करने का भाव यहां स्पष्ट पाया जाता है।

६. यजु० अ० ८। ४४ में भी बड़े प्रबल शब्दों में इसी स्वतन्त्रता के भाव का प्रकाश किया गया है यथा—

वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः ।
यो अस्मां अभिदासत्यधरं गमया तमः ॥

इस का अर्थ यह है कि हे (इन्द्र) शत्रु निवारक वीर पुरुष ! (नः) हमारे (मृधः) हिंसक नीच शत्रुओं को नष्ट कर दो (पृतन्यतः) जो सेना ले कर हमारे ऊपर आक्र-मण करना चाहते हैं, उन को (नीचा यच्छ) नीचे गिरा दो (यः) जो नीच पुरुष (अस्मान्) हमें (अभिदासति) दास बनाता वा बनाना चाहता है उसे (अधरं तमः गमय) अंध-कार के अन्दर गिरा दो अर्थात् सज्जनों को जो पुरुष दासता में रखना चाहता है, वीर पुरुष का कर्तव्य है कि उस का

मिल कर नाश कर दें।

इस प्रकार के वेद मन्त्रों को पढ़ते हुए यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि यद्यपि वेद में सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखने और किसी से द्रोह न करने का स्पष्ट उपदेश है तथापि उस का अभिप्राय यह नहीं कि नीच पुरुषों को सज्जनों पर मन माना अत्याचार करने देना चाहिए। वैदिक धर्म के उपदेश अत्यन्त ओजस्वी हैं। वेद में सर्वत्र अदीनता और स्वाधीनता के भावों को ही प्रधानता दी गई है, इस लिए मनुष्य के जन्मसिद्ध अधिकार स्वाधीनता को जो बलपूर्वक हरण करना चाहते हैं, ऐसे नीच लोगों का मुकाबला करना समाज के हित के लिए आवश्यक ही है। पूर्वोक्त अहिंसा तत्व और इस स्वाधीनता के भाव में कोई विरोध वस्तुतः नहीं, यद्यपि ऊपर से देखने में कुछ समय के लिए अवश्य प्रतीत होता है निःसन्देह ईसाई मत और बौद्ध मत से वैदिक धम की शिक्षाएं इस विषय में बहुत भिन्न हैं, इस भेद का आगे संक्षेप से विचार किया जायगा। यहां इस बात का निर्देश करना ही पर्याप्त है।

दशम सिद्धान्त

कर्तव्य निर्णय

कर्तव्य का निर्णय किस प्रकार किया जाए, यह कर्तव्य

शास्त्र का एक अत्यन्त आवश्यक और जटिल प्रश्न है। बहुत से पाश्चात्य विचारक केवल अन्तःकरण की साक्षि को ही पर्याप्त समझते हैं, किन्तु विचार करने पर मालूम होता है कि केवल अन्तःकरण की साक्षि कर्तव्य का निर्णय करने में सर्वथा असमर्थ है। जब अन्तःकरण सर्वथा निर्मल हो तो सम्भव है कि इस की साक्षि पर पूर्ण विश्वास किया जा सके किन्तु ऐसी अवस्था को पैदा करना और पता लगाना तक कठिन है इस लिए आप्त प्रामाणिक पुरुषों के वचनों पर विश्वास रखना पूर्वीय विचारकों के अनुसार सर्वथा आवश्यक है। केवल अन्तःकरण पर विश्वास करना इस लिए भी कठिन है कि इस का आधार बहुत कुछ देश काल रीति रिवाजों तथा पूर्व संस्कारों पर है। इस विषय में जर्मनी के दार्शनिक शिरोमणि काण्ट ने जेम्समार्टिनो इत्यादि सद्-सद् विवेक बुद्धि को ही कर्तव्य निर्णायक मानने वाले विचारकों की आलोचना में जो कुछ लिखा है उस में से एक वाक्य उद्धृत करना असङ्गिक न होगा।

'Feelings which naturally differ in degree can not furnish a uniform standard of good and evil nor has any one a right to form judgments for others by his own feelings.'

Metaphysics of moral p. 61.

इस का भाव यह है कि अन्तःकरण के भाव पाप पुण्य या अच्छे बुरे का निर्णय करने में सर्व सम्मत प्रमाण नहीं हो सकते क्योंकि वे व्यक्ति भेद से भिन्न भिन्न होते हैं और एक पुरुष को कोई अधिकार नहीं कि वह अपने भाव के आधार पर सब किसी के लिए कर्तव्य का निर्णय कर दे। इस विषय पर यहां विवाद न करते हुए इतना ही कथन पर्याप्त है कि परमेश्वर ने पिता के रूप में सृष्टि के प्रारम्भ में मनुष्य मात्र के कल्याण के लिए पाप पुण्य कर्तव्याकर्तव्य का सब उपदेश वेद के द्वारा किया यह आर्यों का विश्वास चला आया है, जो बड़ा युक्ति युक्त मालूम होता है। जिस प्रकार किसी संस्था के चलाने से पूर्व नियम बनाना आवश्यक होता है और किसी प्रकार का कारखाना वगैरह चलाने के लिए भी पहले उस के नियम इत्यादि स्थिर कर लिये जाते हैं, उसी प्रकार परम पिता परमेश्वर ने यह संसाररूपी एक बड़ी विस्तृत संस्था की स्थापना करते हुए यदि कर्तव्याकर्तव्य निर्णायक तत्वों का उपदेश हमें न किया होता, तो हम अपने पापों के लिये कभी भी जिम्मेवार न ठहरते। इस लिये वेद के द्वारा भगवान् ने धर्माधर्म का मनुष्य मात्र को उपदेश कर रखा है, यही विश्वास हमें संगत प्रतीत होता है। स्वयं वेद के अन्दर परमेश्वर को कवि (सर्वज्ञ) नाम से पुकारते हुए वेद को उस का काव्य कहा है—

'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।

अथर्व० १०। ८। ३२

ऋ० १०। ७१ में जिसे ज्ञान सूक्त के नाम से कहा जाता है इस बात का स्पष्ट निर्देश किया गया है कि वेद के बिना धर्म का यथार्थ ज्ञान असम्भव है। इस सूक्त का छटा मन्त्र इस प्रकार है—

यस्तित्याज सचिविदं सखायं, न तस्य
वाच्यपि भागो अस्ति। यदीं शृणोत्यलकं
शृणोति न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्॥

ऋ० १०। ७१। ६

अर्थात् (यः) जो पुरुष (सचिविदं सखायम्) अपने साथ सम्बद्ध सब पदार्थों का ज्ञान कराने वाले वेद रूपी मित्र को (तित्याज) छोड़ देता है (तस्य) उस की (वाचि अपि) वाणी में भी (भागः) भजनीय अंश अथवा तत्व (न अस्ति) नहीं रहता (यत् ईं शृणोति) वह जो कुछ भी सुनता है (अलकं शृणोति) व्यर्थ सुनता है (सुकृतस्य पन्थाम्) पुण्य धर्म मार्ग को वह (नहि प्रवेद) नहीं जानता। इस मन्त्र में 'सचिविदं सखायं' में वेद का ही निर्देश किया गया है। वेद के बिना धर्म मार्ग का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता यह भाव इस वेद मन्त्र में सूचित किया गया है। यजु० अ० ४० मन्त्र ८ में भी—

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।

इन शब्दों द्वारा सर्वज्ञ, सर्व व्यापक परमेश्वर ने यथार्थ प्रवाह से अनादि जगत् के पदार्थों का यथार्थ उपदेश किया यह अर्थ अनेक विद्वानों द्वारा अभिमत है, जिसे स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु वेद में पवित्र अन्तःकरण की साक्षि और सदाचार को भी कर्तव्य निर्णय में सहायक अवश्य माना गया है, इस बात को दिखाने के लिए यजु० अ० १६ का ७७ वां मन्त्र उद्धृत किया जा सकता है जो इस प्रकार है—

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः ।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः ॥

अर्थात् (सत्यानृते रूपे) सत्य और असत्य रूप परस्पर विरुद्ध पदार्थों को (दृष्ट्वा) देख कर (प्रजापतिः) परमेश्वर ने (व्याकरोत) एक दूसरे से उन को भिन्न कर दिया, किस प्रकार (अनृते) असत्य में उस ने मनुष्य के पवित्र अन्तःकरण में (अश्रद्धाम् अदधात्) अश्रद्धा और अरुचि को स्थापित किया और (सत्ये श्रद्धाम् अदधात्) सत्य के अन्दर उस ने स्वभावतः श्रद्धा को रखा। इस मन्त्र के अन्दर सत्यासत्य का विभाग करना अत्यंत कठिन है तथापि भगवान् ने मनुष्यों के हित के लिए उन के अन्तःकरण में

स्वभावतः सत्य के लिए श्रद्धा और असत्य के लिए घृणा का भाव रख दिया है यह आशय प्रकट किया गया है। इस स्वाभाविक प्रकृति को मनुष्य अपने पापों और निर्बलताओं द्वारा बिगाड़ देता है फिर अन्तःकरण की निर्मलता स्थिर न रहने से उस की साक्षि पर प्रत्येक अवस्था में विश्वास करना असम्भव हो जाता है। तो भी कुछ अश तक वह अन्तःकरण की साक्षि कर्तव्य के जानने में हमें सहायता देती है इस में संदेह नहीं। सदाचार भी कर्तव्य के निर्णय करने में कुछ श तक सहायक है। इस विषय में वेद में से प्रमाण उद्धृत करने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं। तथापि नीचे ऋग्वेद से एक मन्त्र उद्धृत किया जाता है जिस में विद्वानों को अपने से पूर्व के ज्ञानियों के मार्ग चलने का आदेश किया गया है। यह मन्त्र सामाजिक उन्नति के तत्वों का बड़ी उत्तम रीति से वर्णन करता है—

हंसा इव श्रेणिशो यतानाः शुक्रा वसानाः
स्वरवो न आगुः। उन्नीयमानाः कविभिः
पुरस्ताद् देवा देवानामपि यन्ति पाथः॥

ऋ० ३। ८। ६

अर्थात् (हंसा इव) हंसों के समान (श्रेणिशः यतानाः) संघ बना कर उद्देश्य सिद्धि के लिये यत्न करते हुए (शुक्राः

वसानाः) शुद्ध वस्त्रों अथवा वीर्य को धारण करते हुए (स्वरवः) विद्या प्रकाशक शब्द युक्त हो कर ज्ञानी (नः आगुः) हमें प्राप्त होवें। (कविभिः) दूरदर्शी ज्ञानियों द्वारा (पुरस्तात्) आगे आगे (उन्नीयमानाः) उन्नति के मार्ग की ओर लिए जाते हुए (देवाः) विद्वान् लोग (अपि) भी (देवानाम्) अपने से उच्च कोटि के अनुभवी ज्ञानियों के (पथः) मार्ग पर (यन्ति) चलते हैं। इस मन्त्र में जो संगठन सत्सङ्गति आदि सामाजिक उन्नति के तत्व बताए गये हैं उन का अच्छी प्रकार मनन करना चाहिये। यहां—

'देवा देवानामपि यन्ति पाथः'

इन शब्दों द्वारा दूरदर्शी ज्ञानियों के मार्ग पर चलने का जो उपदेश किया गया है उस की ओर ही ध्यान आकर्षित करना था, क्योंकि उस का अभिप्राय 'सदाचार' नाम से मनुस्मृत्यादि में जो धर्म का निर्णायक प्रमाण माना गया है उस के साथ मिलता जुलता है। अब ११ वें सिद्धांत की व्याख्या की जायगी जो सत्य के सम्बन्ध में है।

एकादश सिद्धांत

सत्य महिमा

कर्तव्य शास्त्र के साथ सम्बन्ध रखने वाले विषयों में सत्य

का बड़ा ऊंचा स्थान है। इसी सत्य की महिमा को बताते हुए मनु महाराज ने—

नास्ति सत्यात्परो धर्मो नाऽनृतात् पातकं परम्।

इत्यादि वचन कहे हैं। वेद के अन्दर सत्य के विषय में जो अत्युत्तम उपदेश आए हैं उनका यहां दिग्दर्शन कराया जाता है, ताकि प्राचीन संस्कृत साहित्य में सत्य को उचित स्थान नहीं दिया गया ऐसा विचार जो कुछ पाश्चात्य विचारकों ने प्रकट किया है उसकी असत्यता प्रकट हो जाए।

१. सबसे प्रथम ऋ० १०।८५ के प्रथम मन्त्र का उल्लेख करना है, जिसमें सत्य को पृथिवी का आधार बताया गया है यथा—

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः।

अर्थात् जिस प्रकार द्युलोक का धारण बाह्य रूप से सूर्य द्वारा हो रहा है वैसे ही वास्तविक रूप से इस भूमि का धारण सत्य के ही आश्रय से हो रहा है। सत्य यदि जगत् से निकाल दिया जाए तो कोई किसी पर विश्वास न करे और इस प्रकार कोई भी व्यवहार न चल सके अतः यह बात स्पष्ट है कि सत्य पर ही भूमि का आधार है।

२. अथर्व १२।१ के प्रथम मन्त्र में भी इसी आशय को प्रकट करते हुये पृथिवी के धारण करने वाले पदार्थों में सबसे प्रथम सत्य का वर्णन किया है यथा—

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति॥

जो लोग राजनैतिक उद्देश्य की सिद्धि अथवा मातृभूमि की स्व-

तन्त्रता के लिये छल, कपट, असत्य आदि का भी अवलम्बन कर लेना चाहिये, ऐसा कहते हैं, उन्हें इस मन्त्र का विशेष रीति से मनन करना चाहिये।

३. यजुर्वेद अ० १। ५ में—

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ॥

इन शब्दों द्वारा असत्य का परित्याग करके सत्य के मार्ग पर चलने का व्रत ग्रहण करना चाहिये यह भाव सूचित किया गया है (अग्ने) हे ज्ञान स्वरूप परमेश्वर (व्रतं चरिष्यामि) मैं व्रत ग्रहण करूंगा (तत् शकेयम्) उसके पालन में मैं समर्थ होऊं (मेतत् राध्यताम्) वह मेरा व्रत सफल होवे (अहम्) मैं (अनृतात्) असत्य से (इदं सत्यम्) इस सत्य के मार्ग को (उपैमि) प्राप्त करता हूँ, यह मन्त्र का शब्दार्थ है। विद्वान् पुरुष को सदा सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करने को उद्यत रहना चाहिये, इस बात को देखिये वेद कितने स्पष्ट और उत्तम शब्दों में बताता है—

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चाऽसच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत् ॥
ऋ० ७। १०४। १२

अर्थात् (सुविज्ञानं) उत्तम ज्ञान को (चिकितुषे) प्राप्त करने वाले (जनाय) पुरुष के लिये (सत् च असत् च वचसि) सत्य और असत्य वचन अथवा अच्छे बुरे वचन (पस्पृधाते) एक दूसरे का मुकाबला करते हैं अथवा जो पुरुष सच्चा ज्ञान

सम्पादन करना चाहता है उसकी परीक्षा के लिये सत्यासत्य वचन उसके सामने आते हैं (तयोः) उन दोनों में से (यतरद्) जो (सत्यं) सच और (यतरद्) जो एक (ऋजीयः) ऋजु अथवा सरल वचन है (सोमः) सौम्य गुण युक्त पुरुष (तत् इत् अवति) उसकी ही रक्षा करता है (असत्) जो हीन वा असत्य वचन है उसको (आ हन्ति) सर्वथा नाश कर डालता है। शब्द अत्यन्त स्पष्ट हैं व्याख्या करने की कोई आवश्यकता नहीं। ऋषि दयानन्द ने मालूम होता है इसी मन्त्र के शब्दों को लेकर आर्य समाज के चतुर्थ नियम की रचना की थी। इससे अगला मन्त्र भी सत्य की महिमा और असत्य भाषण के बुरे फल को बड़ी सुन्दरता से प्रकट करता है—

न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम्।
हन्ति रक्षो हन्त्यासद् वदन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते॥

ऋ० ७। १०४। १३

(सोमः) सौम्य गुण युक्त पुरुष वा ऐश्वर्यशाली राजा (वृजिनं) पापी को (न हिनोति) नहीं बढ़ाता, पापी की सहायता नहीं करता और (मिथुया धारयन्तम्) हिंसा पूर्वक शरीर अथवा ऐश्वर्य को धारण करने वाले (क्षत्रियं) क्षत्रिय को (न हिनोति) वह नहीं बढ़ाता किंतु (रक्षः हन्ति) नीच राक्षसी वृत्ति वाले पुरुष को वह मार देता है (असद् वदन्तम्) असत्य भाषण करने वाले को (आ हन्ति) बिल्कुल नाश कर देता है (उभौ) वे दोनों राक्षस अर्थात् स्वार्थी और असत्यवादी (इंद्रस्य) परमेश्वर के अथवा ऐश्वर्यशाली राजा के (प्रसितौ) बन्धन में राजपक्ष में

कारागृहादि में (शयाते) शयन करते हैं। अभिप्राय यह है कि असत्यवादी को राजा और परमेश्वर की तरफ से कठिन दण्ड मिलता है। राजा से तो पापी अपने को फिर भी बचा सकता है पर सर्वज्ञ सर्वव्यापक परमेश्वर के बन्धन से कोई पापी अपने को किसी तरह भी नहीं छुड़ा सकता।

५. सत्य भाषण का व्रत जिन सज्जनों ने लिया हुआ है वही देव हैं ऐसा ऐतेरय, कौषीतकी, शतपथ ब्राह्मणादि में—

सत्य संहितावै देवाः ॥ ऐ. १ । ६ सत्यमया उदेवा कौषीतकी २ । ८
एवं ह वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम् सत्यमेव देवाः' श. १।१।१।४

इत्यादि वाक्यों द्वारा बताया गया है। वेद का कथन देखिये इस विषय में कितना स्पष्ट है—

विश्वान् देवानिदं ब्रूमः सत्यसन्धानृतावृधः।
विश्वाभिः पत्नीभिः सह ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥

अथर्व १९ । ६ । १९

अर्थात् (सत्यसन्धान्) सत्य प्रतिज्ञ (ऋतावृधः) सत्य को सदा बढ़ाने वाले अथवा सत्य पक्षका समर्थन करने वाले (विश्वान् देवान्) सब पाप रहित विद्वानों[1] को (इदं ब्रूमः) हम यह बात कहते हैं (विश्वाभिः पत्नीभिः सह) सब अपनी पत्नियों के साथ (ते) वे ज्ञानी (नः) हमें (अंहसः) पापों से (मुञ्चन्तु) छुड़ाएं। पाप से छुड़ाने का अभिप्राय उपदेश द्वारा भावी पाप से मुक्त कराने का है यह पहले बताया जा चुका है। इस मन्त्र में देवों का विशेषण—

१. अपहत पाप्मानो देवाः ॥ शत० २ । १ । ३ । ४ ॥

सत्य सन्धान् ऋतावृधः

यह जो दिया है वह बड़ा महत्व पूर्ण है। ऋग्वेद ७।६६।१३ के-
" ऋतावान ऋतजाता ऋतावृधो घोरासो अनृतद्विषः।"

इस मन्त्र की व्याख्या पहले की जा चुकी है उस में देवों को सत्य का दृढ़ पक्ष पाती और असत्य का घोर विरोधी बताया है, यह बात यहां फिर स्मरण कर लेनी चाहिये।

६. जो लोग असत्य भाषण कर के सत्य को दबाना चाहते हैं, उनके लिये वेद में बड़े कठोर शब्दों का प्रयोग किया गया है, उदाहरणार्थ ऋ० १०। ८७। मं० ११ में अग्नि से प्रार्थना है-

" त्रिर्यातुधानः प्रसितिं त एत्वृतं यो अग्ने अनृतेन हन्ति ॥

अर्थात् (अग्ने) ज्ञान स्वरूप परमेश्वर वा राजन् ! (यः यातुधानः) जो राक्षस (ऋतं) सत्य को (अनृतेन) झूठ के द्वार (हन्ति) नष्ट करता वा दबाता है वह पापी (त्रिः) तीन बारा अनेक बार(ते प्रसितिम्) तेरे बन्धन को (एतु) प्राप्त करे। परमेश्वर और राजा की ओर से असत्य भाषण करने वालों को कठोर दण्ड मिलता है। यह मन्त्र का भाव है। इस प्रकार असत्य भाषण की निन्दा स्पष्ट है। इसी सूक्त के १२ वें मन्त्र में भी अग्नि से—

अथर्ववज्ज्योतिषा दैव्येन सत्यं धूर्वन्तमचितं न्योष ॥

यह प्रार्थना की गई है जिसका अर्थ यह है कि अपने दिव्य स्थिर ज्योति से सत्य हिंसा करने वाले-उल्लंघन करने वाले (अचितम्) अज्ञानी मूर्ख को (न्योष) नष्ट कर दो अथवा दग्ध कर दो। सम्भवतः असत्य वादी के अज्ञान और असत्य भाषण के

स्वभाव को अग्नि अर्थात् ज्ञानी नेता अपनी ज्योति वा तेज से दूर करदे ऐसा यहां तात्पर्य है, अस्तु।

७. ऋ० ७। ६०। ५ का निम्न मन्त्र भी इस विषय में विशेष मनन के योग्य है—

इमे चेतारो अनृतस्य भूरेर्मित्रो अर्यमा वरुणो हि सन्ति।
इम ऋतस्य वावृधुर्दुरोणे शग्मासः पुत्रा अदितेरदब्धाः॥

अर्थात् (इमे) ये (मित्रः अर्यमा वरुणः) सबके साथ प्रीति करने वाले न्यायकारी श्रेष्ठ गुण युक्त सज्जन (भूरेः अनृतस्य) बहुत से असत्य के (चेतारः सन्ति) जितलाने वाले हैं, यह असत्य है यह सत्य है इस बात का ये सज्जन जनता को उपदेश करने वाले हैं सत्य भाषण के द्वारा सदा सत्य के व्रत को ग्रहण करते हुये ये सब उन्नति करते हैं और वे (शग्मासः) सुख देने वाले (अदितेः) स्वतंत्रता प्रिय देवी के (अदब्धाः पुत्राः) किसी से न दबने वाले पुत्र हैं। इस मन्त्र में सज्जनों के लिये 'अनृतस्य चेतारः' और 'इम ऋतस्य वावृधुर्दुरोणे ये' शब्द बड़े महत्व पूर्ण हैं।

८. ऋ० ६। १३। ६ में सदा सत्य के अवलम्बन करने का जो उपदेश किया गया है उसका यहां उल्लेख करना अनुचित न होगा—

अपघ्नन्तो अराव्णः पवमानाः स्वर्दृशः।
योनावृतस्य सीदत॥

अर्थात् (अराव्णः) अनैश्वर्य और उसके कारणरूप आलस्य प्रमादादि को (अपघ्नन्तः) नाश करते हुये (पवमानाः) पवित्र

(स्वर्द्दशः) सुख का साक्षात्कार करते हुए—अनुभव ग्रहण करते हुये तुम सब (ऋतस्य योनौ) सत्य के गर्भ में (सीदत) सदा स्थिर रूप से बैठो। आलस्य प्रमाद अनैश्वर्यादि को नाश करना पवित्रता सम्पादन करके सुख का अनुभव लेना और सत्य के अन्दर स्थिर रूप से प्रतिष्ठित रहना यह प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य इस मन्त्र के अन्दर बताया गया है, जिसके अनुसार चलने से ही सबका कल्याण हो सकता है। यश और श्री के विषय में वेद के उपदेश का आगे उल्लेख किया जायेगा। सत्य विषयक कुछ उपदेशों का यहां व्याख्यान किया गया है, इस सत्य की रक्षा के लिये अपने सर्वस्व तक का अर्पण कर देना चाहिये इस विषय में एक वेद मन्त्र उद्धृत करके अगले सिद्धांत पर विचार करेंगे। वह मन्त्र अथर्व वेद के १२ वें काण्ड के ३ य सूक्त का ४६ वां मन्त्र है—

सत्याय च तपसे देवताभ्यो निधिं शेवधिं परिदद्म एतम् ॥

जिसका अर्थ यह है कि (सत्य) सत्य की रक्षा के लिये (तपसे) तप के लिये (देवताभ्यः) ज्ञानियों के हित की वृद्धि के लिये (शेवधिं) सुख का धारण करने वाले (एतम्) इस (निधिम्) कोश को—सम्पूर्ण द्रव्यराशि को (परिदद्म) हम देते हैं अर्थात् सत्यादि की रक्षा के लिये अत्यन्त प्रिय धन का परित्याग भी यदि करना पड़े तो उसे प्रसन्नता से करना चाहिये। सत्य भाषण विषयक इतने उत्तम उपदेशों को वेद में देख कर भी जो कहता है कि वेद के अन्दर जीवन विषयक उच्च तत्वों का वर्णन नहीं है उसे सिवाय पक्षपाती के और क्या कहा जा सकता है।

द्वादश सिद्धांत

निर्भयता

परमेश्वर को सब का रक्षक समझते हुये कभी किसी से भय भीत नहीं होना, यह वैदिक धर्म की अत्यन्त मुख्य शिक्षा है। इस भाव को दिल में अच्छी प्रकार ग्रहण करने के लिये निम्न लिखित मन्त्रों पर विचार करना चाहिये।

सख्ये त इन्द्र वाजिनो मा भेम शवसस्पते।
त्वामभि प्रणोनुमो जेतारमपराजितम् ॥

ऋ० १। ११। २।

अर्थात् (शवसस्पते इन्द्र) हे बल के स्वामी परमेश्वर! (वाजिनः) ज्ञान और बल से युक्त हो कर हम (ते सख्ये) तेरी मित्रता में (मा भेम) कभी भय भीत न होवें। (जेतारम्) सब का विजय करने वाले (अपराजितम्) कभी किसी से पराजित न होने वाले सर्व शक्तिमान् (त्वाम्) तुझ ईश्वर को (अभि प्रणोनुमः) बार बार हम स्तुति करते हैं। परमेश्वर को सर्व शक्तिमान् मानते हुए जो पुरुष सदा उसकी मित्रता में रहते हैं अथवा उसी को अपना सुख दुःख का साथी जानते हैं, वे नित्य निर्भय हो कर धर्म मार्ग पर चलते हैं। इसी आशय को अथर्व वेद में निम्न मन्त्र द्वारा प्रकट किया गया है—

पूषेमा आशा अनुवेद सर्वाः सो अस्माँ अभयतमेन नेषत्।
स्वस्तिदा आघृणिः सर्व वीरोऽप्रयुच्छन् पुर एतु प्रजानन् ॥

अथर्व० ७। ६। २

अर्थात् (पूषा) सर्व पोषक परमेश्वर (सर्वा आशाः) सब दिशाओं को (अनु वेद) अच्छी प्रकार जानता है (सः) वह (अस्मान्) हम सब को (अभयतमेन) अत्यन्त निर्भयता के मार्ग से (नेषत्) ले जाए। (स्वस्तिदाः) कल्याण देने वाला (आघृणिः) सब को प्रकाशित करने वाला (सर्व वीरः सब को प्रेरणा करने वाला (अप्रयुच्छन्) प्रमाद न करता हुआ (प्रजानन्) परमेश्वर को सर्व रक्षक जानने वाला पुरुष (पुरः एतु) आगे जाने वाला हो। प्रथम अर्ध भाग में परमेश्वर और दूसरे में पुरुष का ग्रहण करना ही यहां उचित मालूम देता है। जिस के अनुसार यह अभिप्राय होगा कि परमेश्वर हमें सदा निर्भयता की तरफ ले जाता है और इस प्रकार ईश्वर को सर्व रक्षक समझने वाला पुरुष सब का नेता वनता है।

अथर्व० १०। ८। में जो की ब्रह्म विद्या विषयक है अन्तिम मन्त्र निम्न लिखित आया है

अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरंयुवानम् ॥४४॥

इस मन्त्र में आये हुए प्रायः सब विशेषण आत्मा परमात्मा दोनों पर घट सकते हैं, यथा (अकामः) सब कामनाओं से रहित (धीरः) बुद्धि युक्त (अमृतः) अमर (स्वयंभूः) स्वयं सिद्ध (रसेन तृप्तः) आनन्द से पूर्ण (न कुतश्चन ऊनः) किसी प्रकार भी जिसके आनन्द में कमी नहीं है ऐसा परमेश्वर है और ऐसा ही ज्ञानी आत्मा हो जाता है। (धीरम्) बुद्धि युक्त (अजरम्) वृद्धावस्था वा क्षय से रहित (युवानम्) सदा शक्ति शाली (तम्

एव) उसी एक परमेश्वर वा अपने जिवात्मा को (विद्वान्) जानता हुआ पुरुष (मृत्योः) मृत्यु से (न विभाय) नहीं डरता।

युवा कहने से अभिप्राय यहां शक्ति शाली का है क्यों कि जरा का विरोधी शब्द यहां रखना अभिष्ट है अथवा परमेश्वर के पक्ष में युवा का परमाणुओं को मिलाकर सृष्टि और संहार करने वाला और आत्मा के पक्ष में इन्द्रियादि को विषयों से संयुक्त करने वाला ऐसा अर्थ सम्भव है (यु मिश्रणाऽमिश्रणयोः) इस धातु से युवा शब्द सिद्ध होने के कारण ऊपर का अर्थ उचित ही है। भावार्थ यह है, कि जो पुरुष परमेश्वर को सर्व व्यापक सर्व रक्षक और अपने आत्मा को वृद्धावस्थादि रहित जानता है वह कभी किसी से नहीं डरता मृत्यु का भी उसे कोई भय नहीं रहता। भगवद् गीता की इस विषयक शिक्षाएं यहां विशेष द्रष्टव्य हैं।

इसी प्रसङ्ग में अथर्व० १६ १५। का प्रथम मन्त्र देखिये-

यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि।
मघवञ्छग्धि तव त्वं न ऊतिभिर्वि द्विषो वि मृधो जहि॥
अ० १६। १५। १

अर्थात् (इन्द्र) हे सर्वैश्वर्य युक्त परमेश्वर (यतः) जिस जिस दिशा से वा पुरुष से (भयामहे) हम डरते हैं (ततः) उस उस दिशा से (नः) हमें (अभयं कृधि) निर्भय कर (मघवन्) हे ऐश्वर्य शाली प्रभो (तव शग्धि) शक्ति हमें दे (तव ऊतिभिः) अपनी रक्षा से (द्विषः) द्वेष भाव को और (मृधः) हिंसामय भावों को (वि जहि) नष्ट कर दो। इस मन्त्र के अन्दर भी ईश्वर को सर्व व्यापक सर्वरक्षक समझने से निर्भयता प्राप्त होती है यह

यह भाव स्पष्ट सूचित किया गया है। यही मन्त्र सामवेद उत्तरार्चिक प्र० ५ अर्ध प्र० २ मं० १५ में भी आया है।

अथर्व वेद के—

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु॥
अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरोयः॥
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥

इत्यादि १६। १२ में आये हुए मन्त्र अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इन का अर्थ स्पष्ट है कि अन्तरिक्ष, आकाश तथा पृथिवी सब हमें निर्भय करें। पश्चिम, पूर्व, उत्तर, दक्षिण सब दिशाओं से हमें निर्भयता प्राप्त हो। हम मित्रों से, विरोधियों से, परिचितों से तथा जो सामने हों सब से निर्भय हों। हमें दिन में और रात में हर समय निर्भयता हो तथा सब दिशाओं के रहने वाले प्राणी हमारे मित्र हों।

इस प्रकार वैदिक कर्तव्य शास्त्र के आधार भूत १२ सिद्धांतों की सप्रमाण व्याख्या यहां समाप्त होती है। इन्हीं सिद्धांतों को स्पष्ट करने के लिए अन्य भी अनेक प्रमाण उद्धृत किये जा सकते हैं पर विस्तार के भय से केवल थोड़े से प्रमाणों का यहां संग्रह किया गया है। इन पर मनन करने से वैदिक कर्तव्य शास्त्र का महत्व समझ में आ सकता है। युरोपियन विद्वानों का यह कथन कि वेद के अन्दर

जीवन को उन्नत करने वाले सदाचार सम्बन्धी कोई उत्तम उपदेश नहीं हैं यह कितना पक्षपातपूर्ण और अशुद्ध है इस का इसी से अनुमान किया जा सकता है। अगले अध्याय में वैदिक कर्तव्य शास्त्र के अनुसार मनुष्य के वैयक्तिक पारिवारिक और सामाजिक कर्तव्यों का निरूपण किया जायगा।

द्वितीय परिच्छेद

वैयक्तिक और पारिवारिक कर्तव्य

प्रथम कर्तव्य

ईश्वर भक्ति

प्रथम अध्याय में वैदिक कर्तव्य शास्त्र के आधार भूत सिद्धांतों की सप्रमाण व्याख्या की गई है; उन सिद्धांतों को दृष्टि में रखते हुए जो मनुष्यमात्र के वेदोक्त कर्तव्य हैं, उन का संक्षेप से यहां दिग्दर्शन कराना है। सब से प्रथम जगदुत्पादक परमेश्वर के प्रति हमारा कर्तव्य क्या है, इस विषय में कुछ थोड़े से मन्त्रों पर विचार करना आवश्यक मालूम होता है। वैदिक धर्म में शुद्ध एकेश्वर पूजा की कल्पना नहीं पाई जाती, ऐसा कई महानुभावों का कथन है। यहां इस विषय पर वाद विवाद करने की आवश्यकता नहीं। नीचे ईश्वर भक्ति और उस के फल के बारे में जो वेद मन्त्र उद्धृत किये जायंगे, वे स्वयं उपर्युक्त आक्षेपों की निर्मूलता को प्रमाणित कर देंगे।

१. ऋ० २।२३।४ में ईश्वर भक्ति का निम्न लिखित फल बताया गया है—

सुनीतिभिर्नयसि त्रायसे जनं यस्तुभ्यं दाशान्न तमंहो अश्नवत् । ब्रह्मद्विषस्तपनो मन्युमीरसि बृहस्पते महि तत्ते महित्वनम् ॥

ऋ० २ । २३ । ४

अर्थात् (बृहस्पते) सूर्यादि बड़े पदार्थों के स्वामी परमेश्वर ! (जनं सुनीतिभिः नयसि) तू मनुष्यों को उत्तम नीति अथवा मार्ग से ले जाता और (त्रायसे) उन की रक्षा करता है (यः) जो पुरुष (तुभ्यम्) तुझे (दाशात्) देता है—अपने आप को तेरे प्रति समर्पण करता है (तम्) उस को (अंहः) पाप (न अश्नवत्) नहीं प्राप्त होता (ब्रह्मद्विषः) ज्ञानियों के साथ द्वेष करने वाले का तू (तपनः) तपाने वाला न हो कर (मन्युम्) उचित कोप को (ईरसि) प्रेरित करता है (तत्) वह (ते) तेरी (महि) बड़ी भारी (महित्वम्) महिमा है ।

परमेश्वर का न्याय दण्ड दुष्टों का संहार करता है, इतना ही यहां उस के मन्यु दिखलाने से मतलब है । भक्ति करने पर भगवान् पुरुष को सन्मार्ग पर चलते, उस की रक्षा करते और उस को सब पापों से बचाते हैं, यह भाव मन्त्र में स्पष्टतया प्रकट किया गया है । इसी सूक्त का पांचवां मन्त्र देखिये—

न तमंहो न दुरितं कुतश्चन नारातयस्तितिरुर्न द्वयाविनः ।

विश्वा इदस्माद् ध्वरसो वि बाधसे यं सुगोपा रक्षसि ब्रह्मणस्पते ॥ ऋ० २ । २३ । ५

अर्थात् (सुगोपाः) अच्छी प्रकार रक्षा करने वाला (यम्) जिस मनुष्य की (रक्षसि) रक्षा करता है (तं) उस को (अंहः) पाप (न) नहीं स्पर्श करता (दुरितं) दुःख वा दुर्व्यसन (न) नहीं प्राप्त होते (कुतश्चन) कहीं से भी (अ-रातयः) शत्रु उस विद्वान् पुरुष को (न तितिरुः) नहीं हिंसा करने पाते (द्वयाविनः) मन में कुछ और बाहर से और कुछ दिखाने वाले कपटी लोग भी (न) उस धर्मात्मा की हिंसा नहीं कर सकते। (अस्मात्) इस धर्मात्मा पुरुष से (विश्वाः) सब (ध्वरसः) भय और हिंसा को (वि. बाधसे) तू नष्ट कर देता है। परमात्मा जिस का रक्षक है, उस भक्त को संसार में किसी से डर नहीं हो सकता, पाप से वह सदा दूर रहता है और इस लिए उस पर विपत्तियों का भी असर नहीं होता। वह भक्त पुरुष कभी हीन अवस्था को प्राप्त नहीं होता, यह मन्त्र का मुख्य अभिप्राय है।

३. इस परमात्मा की भक्ति का न केवल आध्यात्मिक बल्कि लौकिक फल भी बहुत कुछ प्राप्त होता है, इस विषय में ऋग्वेद २ । २४ । ३ देखिये—

स इज्जनेन स विशा स जन्मना स पुत्रैर्वाजं भरते धना नृभिः। देवानां यः पितरमाविवासति श्रद्धामना हविषा ब्रह्मणस्पतिम् ॥

अर्थात् (यः) जो पुरुष (श्रद्धामनाः) श्रद्धा युक्त मन वाला

होकर (हविषा) भक्ति से (देवानां पितरम्) सूर्य चन्द्रादि तथा ज्ञानियों के पालक (ब्रह्मणस्पतिम्) परमेश्वर की (आविवासति) पूजा करता है (स इत) वह ही (जनेन) उत्तम मनुष्यों से (स विशा) वह प्रजा से (स जन्मना) वह अपने जन्म से (स पुत्रैः) वह अपने पुत्रों से (वाजं) ज्ञान को (भरते) सम्पादन करता है (नृभिः) अपने मनुष्यों के द्वारा वह पुरुष (धना भरते) धन से पूर्ण होता है। इस मन्त्र का भावार्थ यह है कि ईश्वर में पूर्ण विश्वास रखने से मनुष्यों को अच्छे सहायक मित्रादि प्राप्त होते हैं, जिनके द्वारा उसे ज्ञान और ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। दयामयी जगन्माता के प्रति जो अपने को समर्पण कर देते हैं, निश्चय से उनका संसार में कभी अमंगल नहीं हो सकता। कितना उत्तम अभिप्राय यहां प्रकाशित किया गया है।

४. परमेश्वर ही नित्य सुख और शांति देने वाला है, अतः एक मात्र उसकी उपासना करनी चाहिये, इस बात को ऋ० ८। ६६। १३ में निम्नलिखित शब्दों में प्रकट किया गया है—

वयं घा ते त्वे इद्विन्द्र विप्रा अपिष्मसि।
नहि त्वदन्यः पुरुहूत कश्चन मघवन्नस्ति मर्डिता: ॥
ऋ० ५। ६६। १३॥

अर्थात् (वयं) हम सब (घा) निश्चय से (इंद्र)

हे परमेश्वर (ते स्मसि) तेरे हैं और (उ) निश्चय से (विप्राः) ज्ञान सम्पन्न होते हुये (अपि) भी हम सब (त्वे इत् स्मसि) तेरे ही आश्रय में और तेरी ही शरण में हैं (पुरुहूत मघवन्) बहुत से भक्तों द्वारा स्वीकृत ऐश्वर्ययुक्त भगवन् (त्वत् अन्यः) तेरे से अतिरिक्त और (कश्चन) कोई भी (मर्हिता) यथार्थ नित्य सुख देने वाला (न अस्ति) नहीं है। भक्त लोगों की परमेश्वर के प्रति यह उक्ति है। सबको भगवान् की ही शरण में सदा रहना चाहिये, क्योंकि उस को छोड़ कर वस्तुतः संसार में शाश्वत सुख देने वाला कोई नहीं है। लोग इस तत्त्व को न समझते हुये दुनिया के पदार्थों में सुख ढूंडना चाहते हैं, पर अन्त में निराश होकर इसी परिणाम पर पहुँचते हैं, कि दयामय भगवान के अतिरिक्त स्थिर नित्य सुख शांति देने वाला और कोई भी नहीं है, इसी आशय से कठ उपनिषद् में कहा है—

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा, एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वत नेतरेषाम्॥
कठ० २। ५। १२॥

अर्थात् आत्मा के अन्दर स्थित सर्वान्तर्यामी भगवान् का जो साक्षात्कार करते हैं उन्हें ही नित्य सुख प्राप्त होता है अन्य किसी को नहीं।

५. परमेश्वर ही को अपना पिता माता बन्धु भ्राता और मित्र समझना चाहिये। उसी से भक्ति भाव दृढ़ होता है, इस बात को वेद के अनेक मन्त्रों से प्रमाणित किया जा सकता है,

किंतु यहां एक दो मन्त्रों को उद्धृत करके अगले कर्तव्य पर विचार किया जायगा।

देवो देवानामसि मित्रो अद्भुतो वसुर्वसूनामसि चारुरध्वरे।
शर्मन्त्स्याम तव सप्रथस्तमे अग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥

ऋ० १। ६४। १३॥

इस मन्त्र में परमेश्वर के लिये अद्भुत मित्र शब्द का प्रयोग किया गया है। संसारिक मित्रों से एक न एक दिन अवश्य वियोग होता है, किन्तु परमात्मा एक अद्भुत मित्र है जिससे हमारा कभी वियोग नहीं हो सकता पर तो भी जिसे हम नहीं पहचानते। (वसूनां वसुः असि) पृथिव्यादि वसुओं का भी तू आधार भूत है (अध्वरे) सब अहिंसामय कार्यों में तू (चारुः) प्रकाशमान है (तव) तेरी (सप्रथस्तमे) अत्यन्त विस्तृत (शर्मन्) शरण में (स्याम) हम सदा रहें (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर (तव सख्ये) तेरी मित्रता में (वयं) हम (न रिषाम) कभी दुःखी न हों। परमेश्वर सब देवों का अधिष्ठाता और हमारा अद्भुत सहायक और हमारा अद्भुत मित्र है, शुभ कर्मों के द्वारा उसका प्रकाश होता है। उसको जो मित्र समझते हुये शुभ कर्म में तत्पर रहते हैं, उन्हें कभी कोई क्लेश नहीं होता, यह इस मन्त्र का अभिप्राय है।

श्रेष्ठे स्याम सवितुः सवीमनि तद् देवानामवो अद्यावृणीमहे।

इत्यादि मन्त्रों में भी इसी प्रकार परमेश्वर की श्रेष्ठ शरण में सदा रहने की प्रार्थना की गई है। परमेश्वर की शरण अत्यन्त

विस्तृत है, इसका तात्पर्य यह है कि, उसके अन्दर सब जाति देश और वर्ण के पुरुष को बैठने का समान अधिकार है। वहां काले गोरे का और ब्राह्मण चाण्डाल का कोई भेद नहीं। पापी से पापी भी परमेश्वर की शरण में आकर अपने जीवन को पवित्र बना कर तर गये और अब भी तर सकते हैं।

६. ऋ० १०।७।३ में—

अग्निं मन्ये पितरमग्निमापिमग्निं भ्रातरं सदमित्सखायम्।

ऐसा मन्त्र आया है जिसमें ज्ञान स्वरूप परमेश्वर को मैं अपना पिता (आपिः) आप्त गुरु, भ्राता (सदम्) शरण देने वाला और (सखायम्) मित्र (मन्ये) मानता हूँ ऐसा एक भक्त के मुख से कहलाया गया है। वस्तुतः जब तक परमेश्वर ही को अपना सब कुछ न मान लिया जाय, तब तक पूर्ण भक्ति का आनन्द रूपी अमृत मधुर फल प्राप्त नहीं हो सकता।

७. ऋग्वेद ६।७।२ तथा साम उत्तरार्चिक अ० २ प्र० ४ में प्रसिद्ध—

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे।

यह मन्त्र आया है जिसमें परमेश्वर को ही पिता माता बताते हुये उसी से सुख प्रार्थना करनी चाहिये, यह भाव सूचित किया गया है।

इसका शब्दार्थ है—(वसो) सबको बसाने वाले सर्वाधार (शतक्रतो) अनन्त ज्ञान और कर्म वाले परमेश्वर (त्वम्) तू (हि) निश्चय से (नः पिता) हमारा पिता है (त्वं माता बभू-

विथ) तू ही सदा हमारी माता है (अधा) इसलिये (ते) तुझसे ही हम (सुम्नम्) सुख और शांति की (ईमहे) प्रार्थना करते हैं।

इस प्रकार परमेश्वर के प्रति व्यक्ति का जो कर्तव्य है उस की इन मन्त्रों द्वारा सूचना मिलती है। परमेश्वर को किसी समय भी न भूलना चाहिए क्योंकि उसको भूलना अथवा उससे विमुख होना यही वस्तुतः मृत्यु है यह भाव—

'यस्य च्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः'

इत्यादि मन्त्रों का है। अब इस विषय में साम वेद का एक अत्युत्तम मन्त्र उद्धृत करके दूसरे कर्तव्य पर विचार करेंगे, वह मन्त्र इस प्रकार है—

मा न इन्द्र परावृणग्भवा नः सधमाद्ये।
त्वं न ऊती त्वमिन्न आप्यं मा न इन्द्र परावृणक्॥

साम पू० ३।७।५

अर्थात् (इन्द्र) हे सर्वैश्वर्य युक्त परमेश्वर (नः) हमें (न) नहीं (परावृणक्) परित्याग कर हमारा परित्याग न कर अथवा हम तेरा परित्याग न करें: इन दोनों का काव्य की दृष्टि से एक ही आशय है। (नः) हमारे (सधमाद्ये) सदा आनन्द के लिये (भव) हो। (त्वं नः ऊती) तू हमारी रक्षा करने वाला है (त्वम् इत्) तू ही (नः) हमारे लिये (आप्यम्) प्राप्त करने योग्य है। तेरे अतिरिक्त संसार में प्राप्तव्य कुछ भी नहीं है, क्यों कि तुझे प्राप्त कर लेने और जान लेने पर सब कुछ प्राप्त कर

लिया जाता है। (इद्र न मा परावृणक्) परमात्मन् हमारा परित्याग न करो, हमारा कभी परित्याग न करो। यह भक्त की सच्चे दिल से निकली हुई एक प्रार्थना है, जो परमेश्वर को ही अपना रक्षक, प्राप्तव्य मित्र और सब कुछ समझना चाहिये, इस भाव को लिये हुए है। केनोपनिषत् के शांति मन्त्र में इसी वेद मन्त्र के भाव को लेकर—

माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणं
मे अस्त्वनिराकरणं मे अस्तु ॥

ये शब्द आए हैं, जिनका अर्थ यह है, ब्रह्म ने मेरा परित्याग नहीं किया, अतः मैं कभी ब्रह्म से विमुख न होऊं। हम दोनों का सदा योग रहे। इन मन्त्रों पर विचार करते हुए मनुष्य को परमेश्वर के प्रति भक्ति रूप मुख्य कर्तव्य को सदा पालन करना चाहिये।

द्वितीय कर्तव्य

आन्तरिक और बाह्य पवित्रता

अपने प्रति मनुष्य के कर्तव्यों में आन्तरिक और पवित्रता का मुख्य स्थान है। इसीलिये वेद में सब प्रकार की पवित्रता के सम्पादन पर बड़ा भारी बल दिया गया है। ऋग्वेद नवम मंडल के प्रायः मन्त्रों में जिनका देवता सोम पवमान है, इसी विषय में उपदेश तथा प्रार्थनाएं पाई जाती हैं। साम वेद के अनेक मन्त्र भी इसी आन्तरिक और बाह्य शुद्धि का प्रतिपादन करने वाले हैं। अथर्ववेद, यजुर्वेद के अनेक मन्त्र भी स्पष्ट शब्दों में इस

पवित्रता के भाव की सूचना देने वाले हैं। यहां चारों वेदों से इस विषयक थोड़े से मन्त्र उद्धृत किये जाते हैं।

१. ऋग्वेद ५। ६। ५ में निम्न मन्त्र आया है—

इन्द्र शुद्धो न आगहि शुद्धः शुद्धाभिरूतिभिः।
शुद्धो रयिं नि धारय शुद्धो ममद्धि सोम्यः॥

अर्थात् (इन्द्र) ऐश्वर्य शाली राजन् (शुद्धः) शुद्ध गुण कर्म स्वभाव वाला तू (नः आ गहि) हमें प्राप्त हो (शुद्धः) पवित्र तू (शुद्धाभिः) पवित्र (ऊतिभिः) रक्षाओं के साथ हमें प्राप्त हो (शुद्धः रयिं नि धारय) शुद्ध होता हुआ तू ऐश्वर्य धारण कर और (सौम्यः शुद्धः) सौम्य और पवित्र होता हुआ तू (ममद्धि) आनन्द अथवा भोग कर। इस मन्त्र के अन्दर पवित्र भावों के साथ ही रक्षा ऐश्वर्य धारण भोगादि सब कार्य करने चाहिये यह भाव स्पष्टतया सूचित किया है।

२. ऋ० ६। ६७। २२ में निम्न प्रार्थना है—

पवमानः सो अद्य नः पवित्रेण विचर्षणिः।
यः पोता स पुनातु नः॥

अर्थात् (विचर्षणिः) सर्वज्ञ (पवमानः) सबको पवित्र करने वाला (सः) वह परमेश्वर (अद्य) आज (पवित्रेण) अपने पवित्र तेज से (पुनातु) हमें पवित्र करें। (यः पोता) जो वह पवित्र करने वाला परमेश्वर है (स नः पुनातु) हमें वह अवश्य ही पवित्र करे। इस मन्त्र में भी दो बार परमेश्वर से जो कि पवित्रता का स्रोत है पवित्रता की प्रार्थना की गई है।

३. ऋ० ६। ७३। ७ में वाणी की पवित्रता के विषय में निम्न लिखित मन्त्र आया है—

सहस्रधारे वितते पवित्र आ वाचं पुनन्ति कवयो मनीषिणः ॥

अर्थात् (मनीषिणः) बुद्धिमान् (कवयः) दूर दर्शी ज्ञानी लोग (सहस्रधारे वितते) सहस्र धाराओं के समान विस्तृत (पवित्रे) पवित्रता के स्रोत परमेश्वर में मग्न हो कर अर्थात् उस का भजन कर के (वाच) वाणी को (पुनन्ति) पवित्र करते हैं। ईश्वर भजनादि के द्वारा वाणी की पवित्रता को सम्पादन करने का इस मन्त्रमें उपदेश है। इसी भावको साम वेद में निम्न प्रकार प्रकट किया गया है—

४. वयं घ त्वा सुतावन्त आपो न वृक्तबर्हिषः।
पवित्रस्य प्रस्रवणेषु वृत्रहन् परिस्तोतार आसते॥

अर्थात् (वृत्रहन्) हे सब पापों[1] का नाश करने वाले प्रभो (वयं) हम (घ) निश्चय से (सुतावन्तः) विद्यारूपी ऐश्वर्य से युक्त होते हुए (वृक्त बर्हिषः) अग्नि होत्रादि शुभ कर्मों का अनुष्ठान करने वाले (पवित्रस्य प्रस्रवणेषु) पवित्र स्वरूप तेरे पवित्रता के स्रोत में (आपः न) जलों के समान शान्त स्वभाव (स्तोतारः) स्तुति करने वाले पुरुष (परि आसते) बैठे हुए हैं। 'वृक्त बर्हिषः' का अर्थ निघण्टु में ऋत्विक् ऐसा ही दिया है। परमेश्वर की पवित्रता की धाराओं में जल के समान बैठ कर भक्त लोग भी अपने को शुद्ध कर लेते हैं यह भाव यहां सूचित किया गया है जो काव्य की दृष्टि से अत्यन्त उत्तम है।

५. यजुर्वेद अ० ३४ के प्रथम ६ मत्रों में मन को शिव संकल्प बनाने के लिये जो प्रार्थनाएं आई हैं, वे इस प्रसङ्ग में दर्शनीय हैं। उन में से केवल एक मन्त्र का उल्लेख करना पर्याप्त है—

१. पाप्मा वै वृत्रः॥ शत० ११।१।५।७

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।

दूरं गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

अर्थात् (यत्) जो मन (जाग्रतः दूरम् उदैति) जाग्रत अवस्था में दूर दूर जाता है (तद् उ दैवं) वह ही निश्चय से दिव्य गुण युक्त मन (सुप्तस्य) सोये हुए पुरुष के भी (तथा एव) वैसे ही (एति) दूर जाता रहता है (दूरं गमं) दूर जाने वाला (ज्योतिषाम्) इन्द्रियों का [एकं ज्योतिः] एक प्रकाशक (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) मन (शिवसंकल्पम्) शुभ संकल्प करने वाला (अस्तु) होवे। मन्त्र की व्याख्या करने की यहां आवश्यकता नहीं है। मन के अन्दर सदा शुभ भावों का उदय होना चाहिये यह इन सब मन्त्रों का भाव है।

६. यजु० ४।४ में पवित्रता के सम्बन्ध में निम्न लिखित अत्युत्तम भाव पूर्ण मन्त्र आया है—

चित्पतिर्मा पुनातु वाक्पतिर्मा पुनातु देवो मा सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। तस्य ते पवित्र-पते पवित्र-पूतस्य यत्कामः पुने तच्छकेयम् ॥

अर्थात् (चित्पतिः) चित्त का स्वामी (मा पुनातु) मुझे पवित्र करे (सविता देवः) सर्वोत्पादक देव (सूर्यस्य रश्मिभिः) सूर्य की किरणों के साथ (अच्छिद्रेण) सब दोष रहित (पवित्रेण) अपने पवित्र तेज से (मा पुनातु) मुझे पवित्र बनाए (पवित्र पते) हे पवित्र स्वरूप स्वामिन् (पवित्र पूतस्य तस्य ते) पवित्र गुण कर्म स्वभावों के कारण सर्वथा शुद्ध तेरी (यत्कामः) जिस

कामना से (पुने) पवित्रता अपने अन्दर धारण करता हूं (तत् शकेयम्) उस कामना को पूर्ण करने में मैं समर्थ हो सकूं। परमेश्वर पवित्रता का स्रोत है। दिव्य शक्ति शान्ति और आनन्द को प्राप्त करने की कामना से उसकी पवित्रता को अपने अन्दर धारण करना चाहिये यह इस मन्त्र का स्पष्ट आशय है। चित्त वाणी आदि का अधिष्ठाता मुझे पवित्र करे; इसी के अन्दर यह भाव आ जाता है कि वह मेरे चित्त वाणी आदि को पवित्र बनाए इस प्रकार पवित्रता के स्रोत भगवान् की स्तुति प्रार्थना तथा उपासना के द्वारा अपने अन्दर पवित्रता धारण करने का वेद मन्त्रों में बहुत उत्तम उपदेश है।

७. अथर्व० ६। १९ में इस विषयक यह मन्त्र विचारने योग्य है—

पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे।
अथो अरिष्ट तातये॥

अर्थात् (पवमानः) सब को पवित्र करने वाला परमेश्वर (क्रत्वे) उत्तम कर्म करने के लिये (दक्षाय) चतुरता अथवा बल के लिये (जीवसे) उत्तम रीति से जीवन व्यतीत करने के लिये (अथो) और (अरिष्ट तातये) अरिष्ट अथवा मङ्गल के विस्तार के लिये (मा) मुझे (पुनातु) पवित्र करे। भावार्थ यह है कि अपने अन्दर ईश्वर भक्ति आदि द्वारा पवित्रता धारण करने से मनुष्य का आत्मिक बल बढ़ता है और वह जीवन को सुखमय बनाते हुये उत्तम कार्य करने में समर्थ हो सकता है। इस प्रकार की पवित्रता के सम्पादन के लिये प्रत्येक व्यक्ति को सदा उद्यत रहना चाहिये। इस विषय में—

१. भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः॥
२. भद्रं नो अभि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम्।

इत्यादि मन्त्र भी देखने योग्य हैं, किन्तु सुप्रसिद्ध होने के कारण उन की व्याख्या करने की यहां आवश्यकता नहीं मालूम होती। अन्त में यजुर्वेद ६। १५ को यहां उद्धृत कर के हम इस प्रकरण को समाप्त करते हैं जिस से सब अगों की सब प्रकार की पवित्रता का सम्पादन करना ही वैदिक शिक्षा पद्धति का मुख्य तात्पर्य था यह बात भी स्पष्ट हो जायगी। मंत्र निम्न प्रकार है—

वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि चक्षुस्ते शुन्धामि
श्रोत्रं ते शुन्धामि नाभिं ते शुन्धामि मेढ्रं ते शुन्धामि
पायुं ते शुन्धामि चरित्रांस्ते शुन्धामि।

गुरु की शिष्य के प्रति यह उक्ति है कि मैं (ते) तेरी (वाचम्) वाणी को (शुन्धामि) शुद्ध करता हूं (ते) तेरे (प्राणं शुन्धामि) प्राण को शुद्ध करता हूं (ते चक्षु शुन्धामि) तेरी आंख को मैं शुद्ध करता हूं (ते नाभिं, मेढ्रं, पायुं च शुन्धामि) तेरी नाभि उपस्थेन्द्रिय और गुदेन्द्रिय को मैं शुद्ध करता हूं (ते चरित्रान् शुन्धामि) तेरे चरित्र अथवा आचरणों को मैं शुद्ध करता हूं। मन्त्र[1] का भाव अत्यंत

---

१ यह कितने आश्चर्य और दुःख की बात है कि स्पष्ट शब्दों में

स्पष्ट है। सब इन्द्रियों को शुद्ध पवित्र रखना चाहिये और अन्त में इस प्रकार अपने चरित्र को उत्तम बनाना चाहिये जिस के विषय में मनु महाराज ने ठीक कहा है कि—

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः।
आचाराद् धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम्॥

यही चरित्र निर्माण ही वैदिक तथा प्राचीन शिक्षा प्रणाली की आधार शिला थी इसी आदर्श को हर्बट स्पेन्सर आदि यूरोपिय अनेक शिक्षा वैज्ञानिकों ने भी—

'Formation of character is the chief object of education'

अर्थात् चरित्र निर्माण ही शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है इत्यादि वाक्य लिख कर फिर से स्थापित करने का यत्न किया है; अस्तु।

तृतीय कर्तव्य

पूर्ण आत्मसंयम प्राप्ति

प्रथम अध्याय में नवम सिद्धांत की व्याख्या करते हुए आंतरिक और बाह्य स्वराज्य को प्राप्त करना वेद के अनुसार

चरित्र निर्माण और पवित्रता को शिक्षा का उद्देश्य बताने वाले इस मन्त्र को सायणाचार्य, उव्वट, महिधरादि भाष्यकारों ने मरे पशु को शुद्ध करने पर लगाया है।

प्रत्येक व्यक्ति और समाज का कर्तव्य है यह प्रमाण सहित दिखाया जा चुका है तथापि इस विषय में अभी कुछ और लिखने की आवश्यकता मालूम होती है। आत्म संयम को वेदों में कितना आवश्यक माना गया है इस बात को भली भांति समझने के लिए हमें ब्रह्मचर्य की महिमा वर्णन करने वाले सूक्तों पर फिर से दृष्टि दौड़ानी चाहिए। अथर्ववेद ११ वें काण्ड के कुछ मन्त्रों का पहले भी उल्लेख किया जा चुका है एक दो प्रसिद्ध मन्त्रों का उद्धृत कर देना यहां अ-प्रासङ्गिक न होगा।

१. ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते॥
अ० ११। ५। १७

अर्थात् (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य और (तपसा) तप के द्वारा (राजा राष्ट्रं विरक्षति) राजा अपने राष्ट्र की रक्षा करता है (आचार्यः) आचार्य (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य के कारण ही (ब्रह्मचारिणम् इच्छते) ब्रह्मचारी की इच्छा करता है। इस प्रकार के सब मन्त्रों में ब्रह्मचर्य से तात्पर्य अविवाहित रहने से नहीं किन्तु आत्मसंयम प्राप्त करने से ही है। ब्रह्मचर्य का इन्द्रियों पर अधिकार पाये बिना राजा अपनी प्रजा अथवा राष्ट्र का धारण अच्छी प्रकार नहीं कर सकता। जो अपने को वश में नहीं कर सकता उस से यह आशा नहीं

की जा सकती कि वह दूसरों को अच्छी तरह वश में रख सकेगा। इसी आशय से मनुस्मृति में लिखा है—

जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे धारयितुं प्रजाः।

जो आचार्य आत्म संयमी नहीं वह अपने शिष्यों को भी पूर्ण जितेन्द्रिय कभी नहीं बना सकता। अब दूसरा मन्त्र देखिये—

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वरा भरत्॥
११। ५। १९

अर्थात् (ब्रह्मचर्येण तपसा) ब्रह्मचर्य और तप के द्वारा (देवाः[1]) ज्ञानी लोग (मृत्युम्) मौत को (उपाघ्नत) मारते हैं, स्वाधीन कर लेते हैं (इन्द्रः) जीवात्मा (ह) निश्चय से (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य के प्रताप से (देवेभ्यः) इन्द्रियों के लिये (स्वः) सुख को (आभरत्) धारण करता है। पूर्ण आत्म संयम प्राप्त किये बिना कभी भी आत्मिक सुख और आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता, यह यहां तात्पर्य है। ब्रह्मचर्य से यहां वेदाध्ययन पूर्वक आत्म संयम से ही अभिप्राय है न कि अविवाहित रहने से, अतः गृहस्थी लोगों को भी ब्रह्मचर्य पूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहिये इस बात को वेद में ओषधि वनस्पति संवत्सर आदि की उपमा से कैसा

---

१ विद्वांसो हि देवाः॥ शतपथ ३। ७। ३। १०

स्पष्ट कर दिया है। यथा—

ओषधयो भूतभव्यमहो रात्रे वनस्पतिः।
संवत्सरः सहर्तुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः॥

११।५।२०

ओषधि वनस्पति आदि अपनी अपनी ऋतु के अंदर ही फूलती फलती हैं। इसी प्रकार गृहस्थियों को ऋतुगामी होना चाहिये यही उन के लिए ब्रह्मचर्य है जैसा कि योगी याज्ञवल्क्य ने कहा है—

ऋतावृतौ स्वदारेषु संगतिर्या विधानतः।
ब्रह्मचर्यं तदेवोक्तं गृहस्थाश्रमवासिनाम्॥

इस प्रकार ब्रह्मचर्यादि व्रतों द्वारा पूर्ण आत्म संयम को प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति का मुख्य कर्तव्य है। तप अर्थात् शीतोष्ण, सुख दुःख, हानि लाभ, जय पराजय, शोक हर्ष, निन्दा स्तुति, मान अपमानादि द्वन्द्वों का सहन करना उस आत्म संयम की प्राप्ति में मु य साधन है, अतः उस का अनुष्ठान भी अवश्य ही करना चाहिये। अब वेदोक्त पारिवारिक कर्तव्यों के विषय में थोड़ा सा विवेचन किया जायगा।

वेदोक्त पारिवारिक कर्तव्य

इस विषय पर कुछ लिखने से पूर्व सामान्य तौर पर गृहस्थाश्रम के बारे में वेद में कैसा भाव रखा गया है और

वेद के अनुसार स्त्रियों की स्थिति क्या है इन दो विषयों पर थोड़ा प्रकाश डालना अत्यावश्यक है। निम्न लिखित कुछ वेद मन्त्रों पर यहां अच्छी प्रकार विचार करना चाहिए।

१. ऋ० १०। ८५ का ३७ वां मन्त्र इस प्रकार है—

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ॥

विवाह के समय वर वधू को कहता है (सौभगत्वाय) सौभाग्य की वृद्धि के लिए (ते हस्त) तेरे हाथ को (गृभ्णामि) ग्रहण करता हूं (मया पत्या) मुझ पति के साथ (यथा) जिस से तू (जरदष्टिः) वृद्धावस्था पर्यन्त जीने वाली (असः) हो (भगः) ऐश्वर्य शाली (अर्यमा) न्यायकारी (सविता) जगदुत्पादक (पुरन्धिः) अत्यन्त बुद्धि वाला परमेश्वर तथा (देवाः) सब ज्ञानी लोग (त्वा) तुझे (मह्यम् अदुः) मेरे प्रति सौंप चुके हैं। तात्पर्य यह है कि वेद के अनुसार गृहस्थाश्रम मनुष्य के सौभाग्य की वृद्धि का एक प्रधान कारण है और पति पत्नि के सम्बन्ध को पाशविक वासनाओं के तृप्त करने का साधन नहीं अपितु उन दोनों को एक दूसरे की सहायता से उन्नति करने का परमेश्वर प्रेरित साधन समझते हुए व्यवहार करना चाहिए।

२. यजु० ३। ४१। में इस विषयक निम्न मन्त्र अत्युत्तम भावपूर्ण है—

गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि ।
ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः॥

अर्थात् (गृहाः) हे गृहस्थी लोगो ! अथवा मेरे घर के सम्बन्धियो ! (मा बिभीत) मत डरो (मा वेपध्वम्) मत कम्पायमान होवो—हमारे भविष्य जीवन के विषय में किसी तरह की चिन्ता न करो क्योंकि हम (ऊर्जं बिभ्रतः) बल और अन्नादि धारण करते हुए (एमसि) आते हैं—गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हैं । आगे वही ब्रह्मचर्य से द्वितीयाश्रम में प्रवेश करने वाला व्यक्ति कहता है कि मैं (मनसा) मन से (मोदमानः) प्रसन्न होता हुआ (सुमनाः) उत्तम मन वाला (सुमेधाः) उत्तम बुद्धि वाला और (ऊर्जं) बल को (बिभ्रद्) धारण करता हुआ (वः) तुम्हारे (गृहान्) घरों को (एमि) आता हूं । तात्पर्य यह है कि जो ब्रह्मचर्य आश्रम में अपने मन बुद्धि शरीर आदि की शक्तियों को बढ़ाते हुए और उन्हें पवित्र बनाते हुए गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है वही सुख मय जीवन गृहस्थाश्रम में व्यतीत कर सकता है नहीं तो आदमी चिन्ताओं के कारण प्रतिदिन क्षीण होता चला जाता है। अतः गृहस्थाश्रम को स्वर्गधाम और नरकधाम बनाना मनुष्य के अपने ही हाथों में है ।

३. अथर्ववेद ७ । ६० । १ में इस विषय का बहुत ही उत्तम शब्दों में प्रतिपादन किया गया है—

ऊर्जं बिभ्रद् वसुवनिः सुमेधा अघोरेण चक्षुसा मित्रियेण।
गृहानैमि सुमना वन्दमानो रमध्वं मा बिभीत मत् ॥

अर्थात्, मैं (ऊर्जं बिभ्रद्) बल धारण करता हुआ (वसुवनिः) ऐश्वर्य का सेवन करने वाला (वन षण-संभक्तौ (सुमेधाः) अच्छी बुद्धि वाला (अघोरेण) सौम्य (मित्रियेण चक्षुषा) मित्र दृष्टि से सम्पन्न होता हुआ (सुमनाः) उत्तम मन से युक्त (वन्दमानः) वृद्ध पूज्य लोगों को नमस्कार करता हुआ (गृहान् एमि) घरों में आता हूं, गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता हूं (रमध्वम्) तुम सब खुशी मनाओ (मत्) मेरे से (मा बिभीत) न डरो। यह ब्रह्मचर्य से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने वाले के मुंह से वेद में कहाया गया है। जो लोग गृहस्थाश्रम को नरक धाम अथवा दुःख का मूल समझते हैं उन्हें इस प्रकार के वैदिक आशयों पर अवश्य ध्यान देना चाहिये। इसी सूक्त के दूसरे मन्त्र में स्पष्ट ही— 'इमे गृहा मयो भुवः'

ये शब्द आये हैं जिन का अर्थ यह है कि घर सुख देने वाले हैं, दूसरे शब्दों में गृहस्थाश्रम स्वर्ग का धाम है, किन्तु इस स्थापना के साथ एक शर्त लगी हुई है कि जब मनुष्य बल, धन, मेधा, मित्र दृष्टि, उत्तम मन, नम्रता इन सब को धारण करते हुए ब्रह्मचर्य से गृहस्थ में प्रवेश करे तभी गृहस्थाश्रम स्वर्ग का धाम है, अन्यथा उस के नरक धाम

होने में अणु मात्र भी सन्देह नहीं। अब स्त्रियों की स्थिति विषयक प्रश्न पर वैदिक दृष्टि से थोड़ा सा विचार करना है। इस विषय में निम्नलिखित वेदमन्त्र विशेष मनन के योग्य हैं—

१. चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्।
यज्ञं दधे सरस्वती ॥ ऋ० १।३।११

अर्थात् (सूनृतानाम्) मधुर और सत्य वचनों की (चोदयित्री) प्रेरणा करने वाली (सुमतीनां चेतन्ती) उत्तम मति या सलाह को देने वाली (सरस्वती) विदुषी[1] स्त्री (यज्ञं) शुभ कर्म को (दधे) धारण करती है अथवा अग्निहोत्रादि का अनुष्ठान करती है। इस मन्त्र में निम्नलिखित बातें कही हैं।

१. मधुर और सत्य वचन स्वयं बोलना और दूसरों को भी वैसा ही करने की प्रेरणा करना।
२. अपने पति तथा दूसरे लोगों को उत्तम सलाह देना और—
३. यज्ञादि का अनुष्ठान करना यह देवियों का धर्म है।

इस धर्म का पालन करने वाली जो सरस्वती अर्थात् विदुषी स्त्री होती है उसकी सब पूजा करते हैं, इस भाव को ऋ० १०।१७।७ में इस प्रकार प्रकट किया गया है—

---

१. सृ गतौ धातु से सरस्वती शब्द बनता है। गति के ज्ञान गमन और प्राप्ति ये तीन अर्थ होते हैं अतः सरस्वती का ज्ञानवती या विदुषी यह अर्थ स्पष्ट है। इस विषयक विस्तृत विवेचन लेखक की "स्त्रियों का वेदाध्ययन और वैदिक कर्मकांड में अधिकार" नामक सार्वदेशिक सभा, देहली द्वारा प्रकाशित पुस्तक में किया गया है। मूल्य १।)

२. सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते, सरस्वतीमध्वरे तायमाने।
सरस्वतीं सुकृतो अह्वयन्त, सरस्वती दाशुषे वार्यं दात्॥

अर्थात् (देवयन्तः) दिव्य शुभ गुणों की इच्छा करने वाले पुरुष (सरस्वतीं) विद्यावती देवी की (हवन्ते) पूजा करते हैं, (अध्वरे) अहिंसात्मक शुभ कर्म के (तायमाने) विस्तृत होने पर पुरुष (सरस्वतीं हवन्ते) विदुषी स्त्री को निमन्त्रण देते हैं। (सुकृतः) उत्तम कार्य करने वाले सब सज्जन (सरस्वतीं) विदुषी देवी को सहायता के लिये (अह्वयन्त) बुलाते हैं और इस प्रकार (दाशुषे) सत्कार पूर्वक निमन्त्रण देने वाले पुरुष के लिये (सरस्वतीं) विदुषी स्त्री (वार्यं) उत्तम ज्ञान अथवा सलाह (दात्) देती है। इस मन्त्र के अन्दर प्रत्येक शुभ कर्म करते हुये विदुषी देवियों की सलाह ले लेना और उनकी पूजा करना आवश्यक है यह भाव सूचित किया गया है।

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥

मनु० ३। ५६॥

मनु महाराज के इस वचन को यहां स्मरण करना चाहिये।

३. यजु० अ० ८ में जिसका पत्नी देवता है स्त्रियों के विषय में निम्न मन्त्र आया है, जो बहुत ही उत्तम है—

इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदिते सरस्वति महि विश्रुति।
एता ते अघ्न्ये नामानि देवेभ्यो मा सुकृतं ब्रूतात्॥

यजु० ८। ४३

अर्थात् (इडे) हे प्रशंसित गुण युक्त (रन्ते) रमणीय (हव्ये) पूज्य (काम्ये) कामना करने योग्य (चन्द्रे) आह्लादित करने वाली (ज्योते) घर में ज्योति के समान प्रकाशमान (अदिते) दीनता और दुर्बलता के भावों से रहित (सरस्वति) सर अथवा प्रवाह परम्परा से जो जो श्रेष्ठ ज्ञान चला आता है उस को प्राप्त करने वाली विदुषी (महि) महान उदार भावों से युक्त (विश्रुति) बहुत कुछ जिसने श्रवण किया हुआ है ऐसी हे बहश्रुत देवी! (अघ्न्ये) हे कभी न मारने वा तिरस्कार करने योग्य देवी! (ते) तेरे (एता) ये सब इडा रन्ता आदि (नामानि) नाम हैं अर्थात् इन सब ऊपर कहे हुये गुणों से तू सम्पन्न होने के कारण इडादि नामों से पुकारी जाती है। वह तू (देवेभ्यः) विद्वानों के लिये और (मा) मेरे लिये (सुकृतम्) जो शुभ कर्म है, उसका (ब्रूतात्) उपदेश कर। इस मन्त्र की विशेष व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं। एक सच्ची देवी घर में ज्योति का काम देती है, हृदय में जिस समय अन्धकार छा जाता है वही चन्द्र का काम करती है, जिस समय पुरुष के अंदर हीनता दुर्बलता के भावों का राज्य हो जाता है, तो वही सच्ची देवी अदिति के रूप में उसको उत्साह दिलाती है, जब पुरुष के अन्दर संकुचित स्वार्थ भावों की प्रधानता होने लगती है, तो सच्ची देवी उदार भावों का वहां प्रवेश कराती है, अपने ज्ञान के प्रकाश से वह संपूर्ण अन्धकार को दूर भगा कर पुरुष को सदा धर्म के मार्ग में प्रेरित करती है, इसीलिये ऐसी विदुषी देवी की सदा पूजा करनी चाहिये. उसके उत्तम गुणों की सदा प्रशंसा

करनी चाहिये, ताकि उत्तम सुख की प्राप्ति हो सके। यह भाव है जो यजुर्वेद के उपर्युक्त मन्त्र में स्पष्ट रूप से प्रकट किया गया है। मैं पूछता हूँ कि क्या देवियों के विषय में इतना उत्तम और पवित्र भाव किसी दूसरे धर्म ग्रन्थ में पाया जाता है ? क्या सभ्य से सभ्य आधुनिक पुरुषों के ग्रन्थों में भी कहीं देवियों के विषय में इतने ऊंचे भाव का प्रकाश किया गया है ? यदि नहीं तो सामाजिक विकासवाद के सिद्धांत को मानते हुए वेदों को जङ्गलियों के गीत बतलाना कितना पक्षपातपूर्ण और सारहीन है यह स्वयं बुद्धिमान् विचार कर सकते हैं।

४. अथर्ववेद का १४ वां काण्ड सारा ही गृहस्थाश्रम विषयक है जिसमें पति पत्नी सम्बन्ध और कर्तव्य विषय में बहुत उत्तम उपदेश पाये जाते हैं, उनमें से दो तीन ऐसे मन्त्रों का यहां उल्लेख किया जायगा जिनसे यह स्पष्ट है कि देवियों को अपने पतियों के प्रत्येक धार्मिक कार्य में सहयोग देना चाहिये और इस के लिये उत्तम ज्ञान का सम्पादन करना चाहिये।

अथर्ववेद १४। १। ४२ इस प्रकार है—

आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिम्।
पत्युरनुव्रता भूत्वा संनह्यस्वामृताय कम्॥

अर्थ—हे देवि (सौमनसम्) उत्तम मन (प्रजाम्) उत्तम सन्तान (सौभाग्यम् रयिम्) उत्तम भाग्य ऐश्वर्य इन सब की (आशासाना) इच्छा करती हुई तू (पत्युः) पति के (अनुव्रता भूत्वा) अनुकूल शुभ कर्म करने वाली होकर (अमृताय) अमृतत्व की प्राप्ति के लिये (कम्) सुख को (संनह्यस्व) बांध अथवा

सम्पादन कर। अनव्रता होने का तात्पर्य यह है कि पति का जो अध्यापन प्रचारादि परोपकारार्थ उत्तम कर्म है उस में सहयोग देना अर्थात् कन्याओं को पढ़ाने और स्त्रियों के अन्दर प्रचार करने का कार्य अपनी इच्छा से लेकर पति की शुभ भावनाओं को पूर्ण करने में सहायता देना यह प्रत्येक पतिव्रता देवी का मुख्य धर्म है। इस धर्म का पालन करने से न केवल इस लोक और परलोक में ही सुख मिलता है, बल्कि पूर्णानन्द रूप मोक्ष की भी प्राप्ति हो सकती है; यह भाव यहां सूचित किया गया है।

५. अपने पति सास ससुर आदि को सुख देना तथा घर के सब कार्यों को अच्छी प्रकार करना यह तो देवियों का धर्म है ही, किन्तु इतने में ही उनके कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं हो जाती, सारी प्रजा का कल्याण करना यह भी उनके कर्तव्य के अन्तर्गत है इस बात को समझने के लिए अथर्व वेद का निम्न लिखित मन्त्र विशेष विचारणीय है—

स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः ।
स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव ॥
अ० १४। २। २७

अर्थात् हे देवि (श्वशुरेभ्यः) श्वशुर आदि वृद्ध पुरुषों के लिए (स्योना) सुख देने वाली (भव) हो (पत्ये) पति के लिए और (गृहेभ्यः) घर वालों के लिए (स्योना) सुख देने वाली हो (अस्यै) इस (सर्वस्यै) सारी (विशे) प्रजा के लिए (स्योना) तू सुख देने वाली हो (एषाम्) इन सब पुरुषों की (पुष्टाय) पुष्टि अथवा उन्नति के लिए (स्योना भव) तू सुख देने वाली हो। इस मन्त्र के पूर्वार्ध में अपने घर के सब सम्बन्धियों

को सुख देना स्त्री का कर्त्तव्य बताते हुए उत्तरार्ध में सारी प्रजा का कल्याण करना और पुरुषों की उन्नति में सहायता देना यह भी देवियों का कर्त्तव्य बतलाया गया है, वह अत्यन्त महत्व पूर्ण है और उस से उन लोगों के मत का समर्थन नहीं होता, जो केवल घर का कार्य भली प्रकार करना ही देवियों का धर्म है, घर से बाहर कार्य क्षेत्र में उन्हें उतरने की आवश्यकता नहीं, ऐसा कहते हैं, क्यों कि बिना सामाजिक अथवा राष्ट्रीय काम किये देवियां. कभी सारी प्रजा का कल्याण नहीं कर सकतीं, जैसी कि इस मन्त्र में उन्हें आज्ञा दी गई है।

६. प्रत्येक शुभ कर्म को करते हुए पत्नी की अनुमति लेना वेद में आवश्यक माना गया है। महाभारत आदि पर्व अ. ७४ में कहा है—

"अर्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखाः।

अर्थात् पत्नी पुरुष के आधे शरीर के समान और वही सब से श्रेष्ठ मित्र है, इसी भाव को वेद में अनेक स्थानों पर सूचित किया गया है, उदाहरणार्थ अथर्व वेद ७। २०। ५ में कहा है।

"एमं यज्ञमनुमतिर्जगाम सुक्षेत्रतायै सुवीरतायै सुजातम्।
भद्रा ह्यस्य प्रमतिर्बभूव सेमं यज्ञमवतु देव गोपा॥

यहां इसी भाव को प्रकट करने के लिए कि विवाह सम्बन्ध निश्चित करने और अन्य कोई भी कार्य प्रारम्भ करने के लिये पत्नी की अनुमति लेना आवश्यक है, उसे अनुमति नाम से पुकारा गया है। मन्त्र का अर्थ यह है कि (अनुमतिः) जिसकी अनुमति आवश्यक है ऐसी यह देवी (इमं यज्ञम्) इस विवाह यज्ञ को

करने के लिये (आजगाम) आई है। यह यज्ञ कैसा है किस उद्देश्य से विवाह यज्ञ रचा गया है, (सुक्षेत्रतायै) उत्तम सन्तान के लिये एक क्षेत्र तय्यार करने और (सुवीरतायै) उत्तम वीर पुत्रों की उत्पत्ति के लिये (सुजातम्) सुप्रसिद्ध बनाया गया (अस्याः) इस देवी की (प्रमतिः) उत्तम बुद्धि (हि) निश्चय से (भद्रा प्रबभूव) कल्याण कारक है (सा) वह (देव-गोपा) परमात्म देव जिस के रक्षक हैं अथवा देवशुभ गुणों की रक्षा करने वाली यह देवी (इमं यज्ञम्) इस यज्ञ की (अवतु) रक्षा करे। यहां क्षेत्रादि को उपमा देकर विवाह यज्ञ का एक मुख्य प्रयोजन उत्तम वीर सन्तान का उत्पन्न करना है, यह भाव सूचित किया गया है। साथ ही जहां इस प्रकार एक दूसरे की प्रसन्नता से विवाह नहीं होता वहां उत्तम सन्तान भी उत्पन्न नहीं हो सकती, इस बात का निर्देश कर दिया गया है। वर वधू दोनों की पूर्ण प्रसन्नता से ही विवाह होना चाहिये इस बात पर ज़ोर देते हुए वेदों में सैंकड़ों स्थानों पर

सूर्या यत्पत्ये शंसन्तीम् ऋ० १०। ८५। ६
तथा अ० १४। १। ६

मोदमानौ स्वे गृहे ऋ० १। ५

आ रोह तल्पं सुमनस्यमाना अ० १४। २। ३१

परिष्वजस्व जायां सुमनस्यमानः अ० १४। २। ३६

हसामुदौ महसा मोदमानौ अ० १४। २। ४३

इत्यादि शब्द आए हैं जिस में परस्पर प्रसन्नता पूर्वक विवाह करने तथा गृहस्थ के व्यवहार करने का स्पष्ट उपदेश है। जहां इस वेद की आज्ञा का पालन नहीं होता और वर वधू को एक दूसरे की अनुमति लिये बिना नाइयों या पुरोहितों द्वारा ऐसे ही कहीं से पकड़ कर बांध दिया जाता है, वहां क्या परिणाम होता है इस विषय में मनु महाराज ने ठीक कहा है कि—

यदि हि स्त्री न रोचेत, पुमांसं न प्ररोचयेत्।
अप्रमोदात्पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्तते ॥

३। ६१

अर्थात् यदि स्त्री प्रसन्न न रहे और पति को प्रसन्न न करे तो प्रसन्नता न होने से पुरुष में काम की उत्पत्ति व सन्तानोत्पादन सामर्थ्य नहीं होता।

इस लिये वेदों में सर्वत्र विवाह सम्बन्ध का निश्चय माता पिता आदि पर न छोड़ कर विवाहार्थी युवक पुरुष और युवति कन्या पर छोड़ा गया है। इस स्थापना को पुष्टि के लिये निम्न लिखित कुछ प्रमाण पेश करना पर्याप्त है।

१. ऋ० १०। १८३ में युवती कन्या युवा अविवाहित पुरुष को इस प्रकार कहती है—

अपश्यं त्वा मनसा चेकितानं तपसो जातं तपसो विभूतम्।
इह प्रजामिह रयिं रराणः प्रजायस्व प्रजया पुत्रकाम ॥

अर्थात् (पुत्र काम) गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर के पुत्र की कामना करने वाले युवक मैंने (मनसा) मन से (चेकितानं) जानने वाले अथवा मुझे चाहने वाले (तपसः जातम्) सादगी में पले हुए और (तपसः विभूतम्) तप की विभूति से युक्त (त्वा) तुझ ब्रह्मचारी को (अपश्यम्) देखा है (इह) यहां (प्रजां) सन्तान और (इह) यहां गृहस्थाश्रम में (रयिं) ऐश्वर्य को लेकर (रराणः) रमण करता हुआ तू (प्रजया) प्रजा के साथ (प्रजायस्व) फिर उत्पन्न हो अथवा वृद्धि को प्राप्त हो ।

आत्मा वै पुत्र नामासि । शत० १४ । ६ । ४ । २६

के अन्दर जो भाव है कि मानो पिता ही पुत्र के अन्दर प्रवेश करता है, वही यहां 'प्रजया प्रजायस्व' का भाव है। 'तपसो जातं तपसो विभूतम्' ये शब्द स्पष्ट उस युवक के ब्रह्मचर्य व्रत समाप्त करने की सूचना देते हैं। इस प्रकार अपने गुणकर्मानुसार किसी युवक ब्रह्मचारी को कन्या पसन्द कर लेती है, तो वह भी उसके गुण कर्म स्वभाव को सर्वथा अनुकूल पाकर कन्या से कहता है—

अपश्यं त्वा मनसा दीध्यानां स्वायां तनू ऋत्व्ये नाधमानाम् ।
उपमामुच्चा युवतिर्बभूयाः प्रजायस्व प्रजाया पुत्रकामे ।
ऋ० १० । १८३ । २

अर्थात् (पुत्रकामे) हे पुत्र की कामना करने वली

कुमारि ! (मनसा) मन से (दीध्यानां) मेरा ध्यान करती हुई (स्वायां तनू) अपने शरीर को (ऋत्व्ये) ऋतु गामी होकर गर्भाधान के लिये (नाधमानाम्) प्रार्थना करती हुई वा गर्भाधान की इच्छा करती हुई (त्वा) तुझको (अपश्यम्) मैंने देखा है (उच्चा) उच्च भाव युक्त (युवतिः) युवावस्था वाली तू (माम् उप बभूयाः) मेरे समीप आ अथवा मेरे साथ विवाह सम्बन्ध कर और फिर (प्रजया) प्रजा के साथ (प्रजायस्व) वृद्धि को प्राप्त हो । यहां भी 'मनसा दीध्यानाम्। अपश्यम् युवतिः' इत्यादि शब्दों से यह बात बिल्कुल स्पष्ट प्रकट होती है, कि विवाह युवावस्था में और वर वधू की अपनी ही प्रसन्नता से होना चाहिये। माता पिता आदि से केवल अनुमति ले लेना पर्याप्त है। जहां इस प्रकार वर वधू एक दूसरे का चुनाव करते हैं, वहीं सच्चा स्थायी प्रेम रह सकता है, अन्यत्र नहीं । इस बात को देखिये ऋग्वेद के निम्न लिखित मन्त्र में कितनी स्पष्ट रीति से बताया है—

कियती योषा मर्यतो वधूयोः परि प्रीता पन्यसा वार्येण ।
भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशा, स्वयं सामित्रं वनुते जने चित् ॥

ऋ० १० । २७ । १२

अर्थात् (पन्यसा वार्येण) प्रशंसनीय श्रेष्ठ गुणों से युक्त (वधूयोः) स्त्री की कामना करने वाले (मर्यतः) मनुष्य के लिये (कियती योषाः) कैसी स्त्री (परि पीता भवति) अनु-

कूल होती है -कैसी स्त्री को एक गुणी पुरुष पसन्द करता है (यत्) जो (सुपेशाः) सुन्दर रूप वाली (भद्रा) कल्याण और सुख देने वाली (वधूः) स्त्री (जने चित्) मनुष्यों के अन्दर से स्वयं अपने आप (मित्रं) अनुकूल मित्र अथवा साथी को (वनुते) चुनती है और चुन कर उसकी सेवा करती है।

इस विषय में अधिक प्रमाण देने की कोई आवश्यकता नहीं, क्यों कि विवाह के मन्त्रों में 'सुमनस्यमानौ मोदमानौ' आदि शब्द इसी प्रकार की सूचना देने वाले हैं।

विवाहित पति पत्नी का परस्पर कितना प्रेम होना चाहिये इस बात की शिक्षा अथर्व में उन दोनों के मुख से--

"अन्तः कृणुष्व मां हृदि, मन इन्नौ सहासति"

(अथर्व ७। ३५। ४)

तथा—

"ममेदसस्त्वं केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन"

(अथर्व ७। ३८। ४)

इत्यादि वचन कहला कर दी हैं जिन का अर्थ यह है कि हे वधु (मां) मुझ को (हृदि अन्तः कृणुष्व) अपने हृदय के अन्दर बैठा ले (नौ) हम दोनों का (मनः इत्) मन तक भी (सह असति) इकट्ठा एक हो जाय। दूसरे में वधू वर को कहती है (त्वं) तू (केवलः) केवल (मम इत्) मेरा ही हो कर (असः) रह (अन्यासाम्) अन्य स्त्रियों की (कीर्तयाः चन न) चर्चा तक न कर। पति व्रता धर्म और पत्नी व्रत धर्म का यह कितना सुन्दर उपदेश है। पत्नी के कर्त्तव्यों का बड़ा सुन्दर उपदेश वेद में निम्न सारगर्भित शब्दों द्वारा किया गया है,

मृदुर्निम्युः केवली प्रियवादिन्यनुव्रता ॥ अर्थात् हे देवि ! तुम (मृदु) कोमल स्वभाव की (निमन्युः) क्रोध रहित (केवली) पतिव्रता (प्रियवादिनी) सदा प्रिय वचन बोलने वाली और (अनुव्रता) पति के अनुकूल हो कर शुभ कार्यों में सहायता देने वाली बनो । अथर्व १४ । २ । ६४ में इस पति पत्नी प्रेम के भाव को स्पष्ट करने के लिये चक्रवाक चक्रवाकी अथवा चकवा चकवी की उपमा दी गई है, जो अत्यन्त महत्व-पूर्ण है । इस से एक पत्नी व्रत का भाव बहुत ही स्पष्ट हो जाता है, क्यों कि चकवा चकवी का प्रेम और पत्नी पति व्रत बहुत ही प्रसिद्ध है । मन्त्र इस प्रकार है-

"इहेमाविन्द्र संनुद चक्रवाकेव दम्पती ।
प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुताम् ॥

अथ० १४ । २ । ६४

अथर्व ३ । ३० में पारिवारिक कर्तव्यों का एक संक्षिप्त किन्तु अत्युत्तम वर्णन आया है, वहां पुत्र का पिता माता के प्रति कैसा व्यवहार होना चाहिये तथा भ्राता, भगिनी, पती पत्नी का कैसा सम्बन्ध होना चाहिये, इस विषय में कहा है—

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥ २ ॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ ३ ॥

जिनका तात्पर्य यह है कि (पुत्रः) पुत्र (पितुः) पिता के (अनुव्रतः) अनुकूल धर्म करने वाला हो, (माता) माता के

साथ पुत्र (संमना) समान मन वाला (भवतु) होवे, (जाया) पत्नी (पत्ये) अपने पति के लिये (शन्तिवाम्) शान्ति देने वाली (मधुमतीं) अत्यन्त मधुर मानो जिस में शहद लगा हुआ हो ऐसी (वाच) वाणी को (वदतु) बोले । यहां पहले चरण का आशय विशेष ध्यान में रखने योग्य है, उसका अर्थ यह है कि यदि पिता ने कोई परोपकारार्थ शुभ कर्म प्रारम्भ किया था, तो उसको पूरा करना यह पुत्र का मुख्य कर्तव्य है। व्रत का अर्थ ही शुभ कर्म है, अतः पिता के हर एक काम का पुत्र को अनुसरण करना चाहिये, यह भाव यहां नहीं है, किन्तु अच्छे कामों को पूर्ण करने में सहयोग देने से यहां मतलब है मनु के—

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः
तेन यायात्सतां मार्गं, तेन गच्छन्न रिष्यति ॥

इस श्लोक का भी ऊपर कहा हुआ ही आशय है। भाइयों का भी ऐसा ही परस्पर प्रेम और मेल जोल होना चाहिये और उन्हें मिलकर एक दूसरे के शुभ संकल्पों के पूर्ण करने और अच्छे उद्देश्य की प्राप्ति के लिये सदा यत्न करना चाहिये यह सम्यञ्चः और सव्रता शब्दों से प्रकट होता है, जिसका अर्थ मिलकर एक उद्देश्य की सिद्धि के लिये यत्न करते हुए और समान शुभ कर्म वाले ऐसा है। जिस प्रकार पति के साथ मधुर वाणी बोलना पत्नी का कर्तव्य है उसी तरह पत्नी के साथ मधुर शब्द बोलना पति का भी कर्तव्य है इस बात को अथर्व १४। १। ३१में स्पष्ट सूचित किया गया है। तथा—

युवं भगं सं भरतं समृद्धमृतं वदन्तावृतोद्येषु ।
ब्रह्मणस्पते पतिमस्यै रोचय चारु संभलो वदतु वाचमेताम् ॥

अर्थात् (युवं) तुम दोनों वर वधु (समृद्धम्) सदा बढ़ने वाले (भग) ऐश्वर्य को (सं भरतम्) पूर्ण करो-भरो, क्या करते हुये (ऋतोद्येषु) सत्य से कथन करने योग्य व्यवहारों में (ऋत वदन्तौ) सत्य भाषण करते हुये (ब्रह्मणस्पते) हे ज्ञान के स्वामी जगदीश्वर! (अस्यै) इस वधू के लिये (पतिम्) पति को सदा (रोचय) अनुकूल एक ही रुचि वाला बना, जिससे (संभलः) अच्छी प्रकार भार्या का भरण पोषण करता हुआ वह (एताम्) इस (चारुवाचम्) सुन्दर मधुर वाणी को (वदतु) बोले। मंत्र के पूर्वार्ध में सत्य भाषण और सत्य व्यवहार करते हुये सच्चरित्रता के साथ जो वर वधू को ऐश्वर्य कमाने का उपदेश है वह बहुत भाव पूर्ण है। उससे वैदिक आशय की उच्चता और गंभीरता पर प्रकाश पड़ सकता है। इस विषय में अभी बहुत कुछ लिखा जा सकता है, किंतु विस्तार के भय से एक आध और आवश्यक बात कह कर इस प्रकरण को समाप्त किया जाता है।

अतिथि सत्कारादि के बारे में वेद में अत्युत्तम उपदेश पाये जाते हैं। विद्वानों का सब प्रकार से सत्कार करना यह सब गृहस्थियों का मुख्य कर्तव्य। है ऋ० १। १२५ में इस विषय में बड़ा उग्रतर उपदेश है। अन्तिम मन्त्र में कहा हैं—

मा पृणन्तो दुरितमेन आरन्मा जारिषुः सूरयः सुव्रतासः।
अन्यस्तेषां परिधिरस्तु कश्चिदपृणन्तमभि संयन्तु शोकाः॥
ऋ० १। १२५। ७

अर्थात् (पृणन्तः) अतिथियों और विद्वानों को अन्नादि से सत्कार करने वाले (दुरितमेन) दुःखमय मार्ग से (मा आरन्)

न जाएं, कभी दुःखी न हों। (सुव्रताः) शुभ कर्म करने वाले (सूरयः) विद्वान् (मा जारिषु) कभी न नष्ट होवें (तेषाम) उन का (अन्यः कश्चित्) कोई दूसरा (परिधिः अस्तु) धारण करने वाला हो (अपृणन्तम्) अतिथि सत्कारादि न करने वाले कृपण को (शोकः) शोक (अभि संयन्तु) प्राप्त होवें। इस विषयक अन्य कुछ मन्त्रों को हम फिर लिखेंगे। यहां इस प्रकरण को विस्तार भय से समाप्त किया जाता है।

तृतीय परिच्छेद

यज्ञ

द्वितीय अध्याय में संक्षेप से वेदोक्त वैयक्तिक और पारिवारिक कर्तव्यों का वर्णन किया जा चुका है। इस अध्याय में सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्यों के विषय में वेद क्या कहता है इस विषय का दिग्दर्शन कराना है। अनेक वेदज्ञ विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में इस आवश्यक विषय का उचित रीति से निरूपण किया है। अतः हमें विस्तार करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

सूक्ष्म रीति से वेदोक्त सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्यों का विचार किया जाय तो मालूम हो जायगा कि यज्ञ शब्द के अन्दर प्रायः सब सामाजिक कर्तव्यों का अन्तर्भाव हो जाता है। केवल वेद में ही नहीं, प्रायः सभी प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में यज्ञ की जो इतनी महिमा गाई गई है उसमें कुछ विशेष कारण होना चाहिये। यह बात स्पष्ट है कि अग्नि के अन्दर सामग्री और घृत डालने का नाम ही वेदादि में यज्ञ नहीं है, इसका अत्यन्त व्यापक अर्थ है। भगवद्गीता के अन्दर यज्ञ की व्याख्या करते हुये श्री कृष्ण भगवान् ने स्पष्ट बताया है कि—

द्रव्ययज्ञास्तपो यज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥

भ० गी० ४। २८

अर्थात् व्रतधारी जितेन्द्रिय पुरुषों में से कई द्रव्ययज्ञ करने वाले होते हैं, कई शीतोष्णादि द्वन्द्व सहन रूप तपोयज्ञ का अनुष्ठान करते हैं, कई चित्तवृत्ति संयम रूपी योग यज्ञ करते हैं और अन्य कई स्वाध्याय और ज्ञान यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं। कृष्ण भगवान् ने गीता में अर्जुन को यह भी उपदेश दिया है कि निःसन्देह अच्छे या बुरे जितने भी कर्म किये जाते हैं वे जन्ममरण के चक्र में आदमी को डालने वाले होते हैं पर यज्ञ के लिए जो कर्म किया जाता है वह बन्धन में नहीं डालता, अतः तुम यज्ञ के निमित्त से ही सदा कर्म किया करो।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर॥

भ० गी० ३। ८

इससे स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण का अभिप्राय केवल प्राकृतिक द्रव्यमय यज्ञ से नहीं किन्तु परोपकार के लिए निष्काम भावसे जितने भी शुभ कर्म किये जाते हैं उन सबको यहां यज्ञ के नाम से पुकारा गया है। यज्ञ विषय का मुख्यतः प्रतिपादन करने वाले यजुर्वेद के प्रथम ही मन्त्र में—

देवो वः सविता पार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे।

ये जो शब्द आये हैं वे स्पष्ट तौर पर यज्ञ का अर्थ श्रेष्ठतम कर्म है इस बात की सूचना देते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी अनेक स्थानों पर प्रत्येक शुभ कर्म के लिए यज्ञ शब्द का प्रयोग किया गया है। उदाहरणार्थ शतपथ ब्राह्मण १।७।३।५ में लिखा है यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म। तैत्तिरीय संहिता में ३।२।१।४ में लिखा

है' यतो हि श्रेष्ठतमं कर्म। इसके अतिरिक्त क्यों कि 'नाम च धातुज माह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्' इस सिद्धान्त के अनुसार सब वैदिक शब्द यौगिक हैं, यहां यज्ञ शब्द के धात्वर्थ पर थोड़ा सा विचार करना अनुचित न होगा।

यज्ञ शब्द यज्-धातु से बनता है जिसका अर्थ धातुपाठ में देव पूजा संगतिकरण दान बताया गया है। वे देव लोग कौन हैं जिनकी पूजा करना यज्ञ का अङ्ग माना गया है यह एक आवश्यक और कठिन प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होता है। 'विद्वांसो हि देवाः' ऐसा शतपथादि ब्राह्मण ग्रन्थों में यद्यपि लिखा है और भगवद्गीता के १६ वें अध्याय में—

अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥

१६। १

इत्यादि श्लोकों द्वारा दैवी प्रकृति का स्पष्ट वर्णन किया गया है तो भी स्वयं वेद में आए हुए इस विषयक वर्णन का संक्षेप से निरूपण किये बिना हमें सन्तोष नहीं हो सकता। अतः वेद मन्त्रों के आधार पर देव तथा उनकी प्रकृति पर थोड़ा सा यहां विचार किया जाता है। ऋ० १० म मण्डल के ६२--६६ तक के सूक्त विश्वदेव-विषयक हैं, उनके आधार पर विचार करने में हमें बड़ा सुभीता रहेगा। ६२ वें सूक्त का प्रथम मन्त्र इस प्रकार है—

१. ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानशुः।
तेभ्यो भद्रमंगिरसो वो अस्तु प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधसः॥

ऋ. १०। ६२। १

अर्थात् (ये) जो (यज्ञेन) यज्ञ और (दक्षिणया) दक्षिणा

से (समक्ताः) सम्पन्न होकर (इंद्रस्य) परमेश्वर की (सख्यम्) मित्रता को और (अमृतत्वम्) मोक्ष को (आनशुः) प्राप्त होते हैं ऐसे (अंगिरसः) अग्नि के समान तेजस्वी (सुमेधसः) प्रतिभा शाली देवो ! (वः) तुम्हारा (भद्रम् अस्तु) सदा कल्याण हो तुम कृपा करके (मानवं) साधारण मनुष्यों को (प्रतिगृभ्णीत) अपनी संरक्षा में ग्रहण करो अर्थात् अपने उपदेश और सङ्ग से उसे उठाओ। इस मन्त्र के अन्दर देवों के निम्नलिखित गुण बताये गये हैं।

१. वे यज्ञ और दान के द्वारा परमेश्वर के साथ अपनी मित्रता करते हैं अर्थात् शुभकर्मों के अनुष्ठान द्वारा भगवान् को प्रसन्न करते और उसे अपना सहायक समझते हैं।
२. उसी भगवान् के आश्रय से वे अन्त में इस शरीर को छोड़ने के पश्चात् मोक्ष प्राप्त करते हैं।
३. वे कर्तव्य अकर्तव्य का निश्चय करने वाली मेधा से सम्पन्न होते हैं।
४. वे परोपकार में तत्पर रहते हुये अपना और अन्यों का कल्याण करते हैं।

इसी ६२ वें सूक्त का दूसरा मन्त्र इस प्रकार है।

ये ऋतेन सूर्यमारोहयन् दिव्यप्रथयन् पृथिवीं मातरं वि।
सुप्रजास्त्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधसः॥
ऋ० १०। ६२। ३

अर्थात् (ये) जो (ऋतेन) सत्यभाषण सत्य व्यवहार अथवा ज्ञान के द्वारा (दिवी) आध्यात्मिक विज्ञान रूप प्रकाश में

(सूर्यम्) आत्मिक अन्धकार को दूर करने वाले परमेश्वर को (आरोहयन्) उदय कराते हैं–परमेश्वरीय दिव्य ज्योति का दर्शन करते हैं (ये) जो (पृथिवीं मातरम्) मातृभूमि अथवा उसके यश को (वि अप्रथयन्) विस्तृत करते हैं–मातृभूमि के मुख को उज्वल करते हैं ऐसे (अङ्गिरसः) अग्नि के समान तेजस्वी देवो (वः) तुम्हारी (सुप्रजास्त्वम् अस्तु) उत्तम सन्तान हो और तुम कृपा करके (सुमेधसः) उत्तम मेधा से स्वयं युक्त होते हुए (मानवं प्रतिगृभ्णीत) मनुष्य मात्र को अपनी संरक्षा व शरण में ग्रहण करके उसे उन्नत करो। इस मन्त्र में देवों के विषय में मुख्य भाव यह हैं—

१. वे आत्मिक ज्योति को प्राप्त कर के आंतरिक अन्धकार को दूर करते हैं।
२. वे मातृभूमि के यश का विस्तार करते हैं,
३. वे स्वयं बुद्धि और ज्योति से सम्पन्न होकर मनुष्य मात्र को उन्नत करने का यत्न करते हैं। इस विषय में यजु० अ० ३ का ३३ वां मन्त्र देखने योग्य है जो देवों का ऐसा वर्णन करता है—

ते हि पुत्रासो अदितेः प्रजीवसे मर्त्याय।
ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रम्॥ य० ३।३३

अर्थात् (ते) वे सब देव (अदितेः[1] पुत्रासः) स्वतन्त्रता देवी के अथवा अदीन प्रभावशालिनी माता के पुत्र हैं, वे (हि) निश्चय से (मर्त्याय) मनुष्य के लिये (प्रजीवसे) उत्तम और दीर्घ

१. अदीतिः—अदिना देवमाता। निरुक्त।

जीवन व्यतीत करने के लिये (अजस्रम्) निरन्तर (ज्योतिः यच्छन्ति) ज्योति-प्रकाश-देते हैं। इस मन्त्र में देवों के विषय में कहा है कि १-वे स्वतन्त्रता देवी के पुत्र अर्थात् अत्यंत स्वतन्त्रता प्रेमी हैं, १-मनुष्य अच्छी रीति से देर तक जी सकें इस के लिए वे उन्हें उत्तम ज्ञान रूपी प्रकाश लगातार देते रहते हैं उस से भी देवों की परोपकारार्थ प्रवृत्ति स्पष्ट मालूम होती है।

४. देवों की प्रकृति समझने के लिए ऋ० १० । ६६ । १ भी विशेष मनन के योग्य है अतः उस का उल्लेख यहां अनुचित न होगा—

देवान् हुवे बृहच्छ्रवसः स्वस्तये ज्योतिष्कृतो अध्वरस्य प्रचेतसः । ये वावृधुः प्रतरं विश्ववेदस इन्द्रज्येष्ठासो अमृता ऋतावृधः ॥

अर्थात् (स्वस्तये) कल्याण के लिए (बृहच्छ्रवसः) बड़ी कीर्ति वाले यशस्वी (ज्योतिष्कृतः) प्रकाश करने वाले अज्ञानान्धकार को दूर करने वाले (अध्वरस्य) अहिंसामय व्यवहार का (प्रचेतसः) बोध कराने वाले (देवान् हुवे) ज्ञानियों को मैं निमन्त्रण देता हूं। (ये) जो (ऋतावृधः) सदा सत्य का पक्ष पोषण करने वाले (विश्ववेदसः) सम्पूर्ण ऐश्वर्य वा ज्ञान से युक्त (अमृताः) आत्मिक अनुभव के कारण अपने को अमर मानने वाले (इन्द्र ज्येष्ठाः) सर्वे-

श्वर्य युक्त परमात्मा को ही सब से ज्येष्ठ अथवा बड़ा स्वीकार करने वाले देव (प्रतरं) अत्यन्त उत्कृष्टता के साथ (वावृधुः) वृद्धि को प्राप्त करते अथवा उन्नति करते हैं। इस मन्त्र में देवों की प्रकृति के विषय में निम्न लिखित बातें कही हैं—

१-देव अहिंसामय व्यवहार का बोध कराते हैं।

२-वे सदा सत्य का ही पक्ष लेते हैं।

३-स्वयं ज्ञानी होते हुए वे अन्यों को ज्ञान देते हैं। इन मन्त्रों के अतिरिक्त दूसरे स्थानों पर देवों के जो विशेषणादि आये हैं अब उन का थोड़ा सा विचार करेंगे। ऋ० १०। ६३। ४ में देवों के लिए 'नृचक्षसः, अनिमिषन्तः, ज्योतिरथाः, अनागसः' ये शब्द आये हैं जिन के द्वारा देवों की प्रकृति के विषय में निम्न सूचना मिलती है—

१-नृचक्षसः—मनुष्यों के व्यवहार का अच्छी प्रकार निरीक्षण करने वाले और उन्हें शिक्षा देने वाले।

२-अनिमिषन्तः—कभी प्रमाद न करने का भाव इस शब्द के अन्दर है। लोकहित में देव लोग कभी आलस्य प्रमाद नहीं करते यह तात्पर्य है।

३-ज्योतीरथाः -प्रकाश रूपी रथ पर देव लोग बैठते हैं अर्थात् आन्तरिक ज्योति आत्मिक प्रकाश को प्राप्त कर के सदा उस के आश्रय से वे सब कार्य करते हैं। रथ का अर्थ

रमण करने वाला भी हो सकता है ।

४—अनागसः—अपराध अथवा पाप रहित सदा धर्म मार्ग पर चलने वाले ।

ऋ० १० । ६३ में देवों के लिए 'प्रचेतसः' तथा 'विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च मन्तवः' इन शब्दों का प्रयोग हुआ है। प्रचेतसः का अर्थ ज्ञानी स्पष्ट ही है । मन्तवः यह शब्द मन् धातु से बना है जिस का अर्थ मनन करना अथवा अच्छी प्रकार विचार करना है । वाक्य का अर्थ यह होगा कि जो (स्थायुः) स्थावर, (जगतः) जंगम (विश्वस्य) सम्पूर्ण जगत् के (मन्तवः) हित का विचार करने वाले हैं ।

ऋ० १० । ६३ । १२ में 'आरे देवा द्वेषो अस्मद् युयोतनोरुणः शर्म यच्छता स्वस्तये' ये शब्द आये हैं जिन में देवों से प्रार्थना है कि हे (देवाः) ज्ञानियो ! (द्वेषः) द्वेषभाव को (अस्मद्) हमारे से (आरे युयोतन) निकाल कर दूर फेंक दो और (स्वस्तये) कल्याण के लिए (नः) हमें (उरु शर्म यच्छत) बड़े उत्तम सुख का दान करो । इस प्रार्थना का स्पष्ट अभिप्रायः है कि देव लोग किसी से द्वेष नहीं करते इसी लिए अनेक स्थानों पर अद्रुहः आदि शब्द आये हैं । अथर्ववेद में स्पष्ट ही—

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः ।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायं प्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥

आदि मन्त्रों द्वारा देवों की अद्रोह—प्रेम की प्रकृति का वर्णन किया गया है। ऋ० १०। ६४। ७ में देवों के विषय में कहा है 'ते हि देवस्य सवितुः सवीमनि क्रतुं सचन्ते सचितः सचेतसः।' जिसका अर्थ यह है कि (ते) वे देव (हि) निश्चय से (सवितुः देवस्य) सर्वोत्पादक जगदीश्वर की (सवीमनि) शरण में रहते हुए (सचितः) ज्ञान सम्पन्न और (सचेतसः) समान चित्त अर्थात् परस्पर प्रीति भाव को धारण करते हुए (क्रतुं सचन्ते) शुभ कर्म का अनुष्ठान करते हैं। इस से स्पष्ट होता है कि सब के सब देव एक ही परमेश्वर की उपासना करते और परस्पर प्रेम भाव को धारण करते हुए परोपकारार्थ उत्तम कर्मों के अनुष्ठान में सदा तत्पर रहते हैं।

ऋ० १०। ६५। ३ में देवों के लिये 'ऋतज्ञाः ऋतावृधः सुमित्र्याः' इन शब्दों का प्रयोग किया गया है जिन के अन्दर निम्न भाव है—

१. देव ऋत अर्थात् सत्य अथवा अटल प्रकृति नियमों को जानने वाले हैं।

२. देव सत्य को जानते हुए उसी की सदा वृद्धि करते हैं वे सत्य के ही पक्षपाती हैं।

३. देव सब के साथ मित्रता धारण करते हैं उन की मित्रता सच्ची मित्रता होती है जिसका उद्देश्य दूसरों को उन्नति मार्ग पर चलाना है।

ऋ० १० । ६५ । ११ में 'आर्याव्रताविसृजन्तो अधिक्षमि' ये शब्द देवों के बारे में आये हैं जिन का तात्पर्य यह है कि १- देव लोग आर्य अर्थात् अत्यन्त श्रेष्ठ सदाचारी हैं।

२. देव (अधिक्षमि) पृथिवी पर (व्रता विसृजन्तः) उतम सत्य भाषणादि व्रतों का विशेषरूप से पालन करने वाले हैं।

मन्त्र १४ में देवों को' अमृता ऋतज्ञाः, मनोर्यजत्राः, रातिषाच; अभिषाचः, स्वर्विदः' इन शब्दों से पुकारा गया है। पहले दो की व्याख्या हो चुकी है शेष का अर्थ इस प्रकार है—

मनो: यजत्राः' = मनुष्य मात्र के पूजनीय !
रातिषाचः = दानी (रा-दाने)
अभिषाचः = सज्जनों के साथ अच्छी प्रकार
मिलने वाले [षच-समवाये]
स्वर्विदः = सुख किस प्रकार प्राप्त हो सकता है
इस बात को जानने वाले ।

इन सब विशेषणों पर विचार करना चाहिये।

ऋ० १० । ६७ । २ में देवों के लिये 'ऋतं शंसन्तः, ऋजु दीध्यानाः, दिवस्पुत्रासा असुरस्य वीराः ॥ ये शब्द आये हैं, जिन का भाव यह है कि (१) देव लोग सदा सत्य का उपदेश करते हैं, (२) कुटिलताका परित्याग करके वे ऋजु अर्थात् सरल मार्ग का ही सदा निरन्तर ध्यान रखते हैं, (३) वे प्रकाश के पुत्र हैं और स्वार्थ भाव रूपी असुर के वीर अर्थात् मारने वाले हैं। प्रकाश पुत्र से अभिप्राय आत्मिक ज्योति और विद्यारूपी प्रकाश से मालूम होता है।

ऋग्वेद प्रथम मण्डल के ३ य सूक्त के सातवें मन्त्र में देवों के

विषय में निम्न लिखित शब्द आये हैं।

"ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वे देवास आगत।
दाश्वांसो दाशुषः सुतम्॥"

इस मन्त्र में कहा है कि देव लोग (ओमासः) सब की रक्षा करने वाले होते हैं (अव-रक्षणे) (२) देव लोग चर्षणीधृत अर्थात् सब मनुष्यों को धारण करने वाले होते हैं। चर्षणी का अर्थ मनुष्य निरुक्त में दिया ही है।

३. देव (दा-श्वांसः) दान शील होते हैं। देवों के ये तीन गुण भी ध्यान में रखने योग्य हैं। ऋ० १।३।५ में 'विश्वेदेवासो अप्तुरः सुतमागन्त तूर्णयः।' ये शब्द आते हैं, जिन में देवों को अप्तुरः कहा है। इस शब्द का अर्थ कर्मशील है, अप = कर्म तुर = त्वरा करने वाले। तूर्णयः में फुर्तीले का भाव है। ऋ० १।३।९ में 'विश्वे देवासो अस्रिध एहिमायासो अद्रुहः।' ये शब्द हैं जिन में देवों के विषय में कहा है, कि वे (१) अहिंसक होते हैं। अस्रिधः का अर्थ अहिंसक प्रसिद्ध ही है। (२) वे कर्मशील होते हैं। श्री स्वामी दयानन्द जी ने इस पद का 'आसमन्ताच्चेष्टायां माया-प्रज्ञा येषा ते' अर्थात् कार्य करने में जिन की बुद्धि लगी रहती है ऐसे, यह अर्थ किया है। अस्रिधः का अर्थ उन्होंने अक्षय विज्ञान युक्त किया है। (३) देव 'अद्रुहः' अर्थात् द्रोह रहित होते हैं।

इन सब वेद में आये हुये देव विषयक वर्णनों पर विचार कर के हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि देवों की प्रकृति का श्री कृष्ण महाराज ने भगवद् गीता के १६ वें अध्याय में जो वर्णन

क्रिया है यह वेद के ही आधार पर है। अनेक गुणों का आधार वेद में से यहां दिखाया गया है, शेष का भी दिखाया जा सकता है, पर अत्यन्त विस्तार के भय से यहां अन्य प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं मालूम होती। भगवद् गीता के श्लोकों को एक बार फिर उद्धृत करके अगले विषय का विचार किया जायगा।

'अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोग व्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥

इन श्लोकों के अन्दर निर्भयता, चित्त शुद्धि, ज्ञान कर्म, दान, दम, यज्ञ, अहिंसा, सत्य, अक्रोध आदि को देवों की प्रकृति का आवश्यक अङ्ग माना गया है वही वेद का तात्पर्य है। पुराणों में वर्णित गाथाएं देवों के जिस स्वभाव का परिचय देती हैं वह सर्वथा अवैदिक और अनेक स्थानों में घृणित है। अस्तु, तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के देवों की पूजा करना ही मुख्यतया यज्ञ का अर्थ है। यही वेद के अनुसार 'प्रथम धर्म' अथवा मुख्य कर्तव्य है। 'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।'

अब संगति करण का थोड़ा सा विचार करना आवश्यक

है। वेद में इस विषय में बहुत ही उत्तम उपदेश पाए जाते हैं। वेद के अनुसार व्यक्ति समाज का एक अङ्ग है और इस लिये समाज की उन्नति के लिये अपनी संपूर्ण शक्तियों को लगा देना सब का प्रधान धर्म है। वेद में मनुष्य के लिये 'व्रात' शब्द का अनेक स्थानों पर प्रयोग किया गया है जिस का अर्थ समुदाय अथवा संघ प्रिय है, इस से मनुष्य सामाजिक प्राणी है इस प्रसिद्ध उक्ति का ही समर्थन होता है। ऋ० १०। १९१ में संगतिकरण अथवा संघ बना कर उन्नति करने का 'सगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्' इत्यादि मन्त्रों द्वारा अत्युत्तम उपदेश किया गया है जिन में मिल कर जाने अर्थात् उद्देश्य की पूर्ति के लिये यत्न करने, मधुर वाणी बोलने और मन को उत्तम शिक्षा के द्वारा सुसंस्कृत करने वा ज्ञान सम्पन्न बनाने का भाव पाया जाता है। इसी सच्ची एकता के भाव को देखिये अथर्व के निम्न लिखित मन्त्रों में कितनी उत्तमता से प्रकट किया गया है—

१. 'सं वः पृच्यन्तां तन्वः सं मनांसि समुव्रता।
सं वोऽयं ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत्॥

अर्थात् (वः) तुम्हारे (तन्वः) शरीर (संपृच्यन्ताम्) मिले हुए हों (मनांसि सं) तुम्हारे मन मिले हुए हों (व्रता) भ कर्म अथवा सत्यभाषणादि विषयक निश्चय (समु) अविरोधी एक रूप हों। (ब्रह्मणस्पतिः) ज्ञान के स्वामी

आचार्य अथवा परमेश्वर ने और (भगः) ऐश्वर्यशाली भगवान् ने (वः) तुम्हें (समजीगमत्) मिलाया है। केवल ऊपर की एकता से कुछ नहीं बन सकता, जब तक हमारे मन एक न हों, जब तक सभी सत्यभाषण देश सेवादि का व्रत न लें तब तक सच्ची एकता कभी स्थापित नहीं हो सकती। इसी लिये वेद में मन के अविरोधी होने पर इतना बल दिया गया है। इस के अगले ही मन्त्र में कहा है 'संज्ञपनं वो मनसोऽथो संज्ञपनं हृदः' अर्थात् तुम्हारे मन और हृदय का मिलाप होवे! इसी सूक्त के तीसरे मन्त्र में फिर देवों की परस्पर प्रीति का वर्णन करते हुए 'इमान् जनान् संमनसस्कृधीहः,' यह प्रार्थना है जिस का अर्थ यह है कि इन सब पुरुषों को समान मन वाला बनाओ। ऋग्वेद तथा अथर्व वेद दोनों में 'समानि व आकूतिः समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो यथा वसुसहासति।' यह मन्त्र आया है जिसके अन्दर फिर संकल्प, हृदय और मन की समानता पर बड़ा जोर दिया गया है। यह बात विशेष तौर पर ध्यान में रखने योग्य है कि वेद में एकता का उपदेश करते हुए सर्वत्र मन और हृदय के अन्दर एकता स्थापित करने पर बल दिया गया है।

२. ऋ० १ । १९१ । ३ का ही मन्त्र अथर्व ६ । ६४ । २ में थोड़े पाठ भेद से इस प्रकार आया है—

'समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानेन वो हविषा जुहोमि समानं चेतो अभिसंविशध्वम्॥

इस का अर्थ यह है कि (समानो मन्त्रः) सब पुरुषों का विचार समान हो (समितिः समानी) सभा समितियें सब समान हों। अर्थात् उन में प्रवेश करने का योग्यतानुसार प्रत्येक पुरुष को समान अधिकार हो (समानं मनः) सब का मन समान अथवा प्रीति युक्त हो (एषाम्) इन सब मनुष्यों का (चित्तं समानम्) चित्त समान हो। मैं ईश्वर (वः) तुम सब को (समानेन हविषा जुहोमि) समान रूप से सब भोग्य पदार्थ पृथिवी जल वायु आदि देता हूं, इस लिए तुम सब (समानं चेतः) एकचित्त के अन्दर (अभिसम्विशध्वम) प्रवेश करलो अथवा एक दूसरे के साथ अपना चित्त ऐसा जोड़ दो कि शरीर अलग-अलग होते हुए भी तुम्हारा एक ही चित्त मालूम होवे। सच्ची स्थिर एकता के भाव को कितने जोरदार शब्दों में यहां बताया गया है इस को प्रत्येक विचारक स्वयं जान सकता है। अथर्व ३। ३० में संगति करण के विषय में अत्यन्त प्रभावशाली उपदेश पाये जाते हैं उन में से कुछ की व्याख्या की जा चुकी है शेष भी सुगम और सुप्रसिद्ध हैं अतः यहां इस प्रकरण का विस्तार करने की आवश्यकता नहीं। वेद में सभा समिति और संसद् इन तीन प्रकार की सभाओं का स्पष्ट वर्णन आया है जिन से प्रायः ग्राम सभा, नागरिक सभा वा (municipality) और व्यवस्थापक सभा (council) का ग्रहण किया जाता है।

इस प्रकार संगति करण पर संक्षेप से विचार करने के अनन्तर दान विषयक वेद के भाव को देखना है। ऋग्वेद दशम मण्डल के १०७ तथा ११७ वें दो सूक्त सम्पूर्ण रूप से इसी दान की महिमा का वर्णन करने वाले हैं। कृपण पुरुष की निन्दा करते हुए ऋ० १०।११७।१ में कहा है कि—'उतापृणन्मर्डितारं न विन्दते' अर्थात (अपृणम्) दूसरों का पालन न कर के केवल अपना पेट भरने वाला पुरुष (मर्डितार) सुख देने वाले को (न विन्दते) नही प्राप्त करता। स्वार्थी कञ्जूस मक्खी चूस की कोई सहायता नहीं करता यह उस का भाव है। दान देने वाले उदार पुरुष को दान रूपी पुण्य के बदले में बहुत कुछ प्राप्त होता है। उसका सब स्थान पर मान होता है, सब शुभ कार्यों में सम्मिलित होने के लिये उसे निमन्त्रण दिया जाता है, उत्तम उत्तम भोज्य पेय पदार्थ उसे प्राप्त होते हैं, विवाह के लिये सुन्दर कन्या उसे प्राप्त होती है, इस प्रकार दान करने से केवल सांसारिक दृष्टि से भी बड़ा भारी लाभ होता है। इस बात को दोनों सूक्तों से बड़े जोरदार शब्दों में बताया गया है। इन दोनों सूक्तों में दान से अभिप्राय न केवल द्रव्य के दान, बल्कि विद्या आदि के दान का भी है इसी लिये १०।११७।७ में कहा है—'उतो रयिः पृणतो नोप-दस्यति' अर्थात् देने वाले का ऐश्वर्य कम नहीं होता किन्तु बढ़ता ही है। यह बात विद्या दान के विषय में ही पूरे तौर पर घट

सकती है। ऐश्वर्य कभी किसी के पास निरन्तर रहने वाला नहीं है। आज एक के पास है तो कल दूसरे के पास चला जाता है। परसों तीसरे के पास, इस प्रकार रथ चक्र की तरह धन का चक्कर चलता रहता है, इस लिये ऐश्वर्य को अनित्य समझ कर निर्धन लोगो की सहायता के लिये उस का उपयोग करना चाहिये। इस प्रकार करने से न केवल दूसरे का भला होना है बल्कि दूर दृष्टि से देखा जाए तो अपना भी बड़ा भारी लाभ है इस बात को ऋ० १०। ११७। ५ में—

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम्।
ओहि वर्तन्ते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुपतिष्ठन्तेह रायः ॥

इत्यादि मन्त्रों द्वारा बताया गया है। इतना ही नहीं, मन्त्र ६ में कहा है कि कृपण मूर्ख पुरुष के पास जो ऐश्वर्य आता है वह उस के नाश ही का कारण होता है। जो पुरुष अर्यमा अर्थात् न्यायप्रिय धर्मात्मा आदमियों का दान नहीं देता और न आपत्ति के समय मित्रों की धन द्वारा सहायता करता है वह अकेला धन का उपभोग करता हुआ पुरुष वास्तव में पाप को खाता है। देखिये कितने कड़े शब्दों में स्वार्थ के राक्षसी भाव की निन्दा की गई है। मैं समझता हूं कि—'केवलाघो भवति केवलादी' यह उपदेश न केवल प्राकृतिक भोजन अथवा अन्य द्रव्यों के विषय में है बल्कि आध्यात्मिक भोजन वा Spiritual Food के विषय में भी है। जो पुरुष स्वयं आध्यात्मिक उन्नति कर के सन्तुष्ट हो जाता है और दूसरों

के लाभ के लिए कोई काम नहीं करता वह भी मेरे विचार में वैसा ही पाप का भागी है जैसा कि अन्न और द्रव्य का केवल अपना पेट भरने के लिए उपयोग करने वाला कृपण पुरुष। यह मन्त्र अत्यंत महत्वपूर्ण है अतः इस का यहां पूरा उल्लेख करना अनुचित न होगा।

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥

इसी मंत्र की अन्तिम पंक्ति के आशय को ले कर मनुस्मृति में—'अघं स केवलं भुंक्ते यः पचन्त्यात्मकारणात्' और गीता में—'भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।'

ये श्लोक आये हैं इन सब का आशय समान ही है। ज्ञान सम्पादन कर के जो पुरुष जंगल में जा समाधि लगा कर बैठ जाता है उस की अपेक्षा उस यथार्थ ज्ञान का प्रचार करने वाला तथा कृपण की अपेक्षा उदार दानी पुरुष सहस्रों गुणा अच्छा और पूजनीय है। इस बात को १०।११७।७ में स्पष्ट शब्दों में कहा है—

वदन् ब्रह्माऽवदतो वनीयान्, पृणन्नापिरपृणन्तमभिष्यात्।

जिस का शब्दार्थ यह है कि (वदन्) उपदेश करने वाला (ब्रह्मा) ब्रह्मज्ञानी (अवदतः) उपदेश न करने वाले की अपेक्षा (वनीयान्) अधिक पूजनीय है (पृणन् आपिः) दान दे कर निर्धनों को तृप्त करने वाला (आपिः) सम्बन्धी

(अपृणन्तम्) दान न देने वाला कञ्जूस को (अभिष्यात्) मात कर देता है उस से अधिक मानप्रतिष्ठा को प्राप्त करता है।

ऋ० १०। १०७। ४ में कहा है कि जो दक्षिणा दे कर सिद्धि को प्राप्त होता है उसे ही ऋषि ब्रह्मा यज्ञन्यं (याज्ञिक) सामगायी और वेदज्ञ वा ब्रह्मज्ञानी कहते हैं।

तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुर्यज्ञन्यं सामगामुक्थशासम्।
स शुक्रस्य तन्वो वेद तिस्रो यः प्रथमो दक्षिणया रराध॥

ऋ० १०। १०७। ६

इस मन्त्र के अन्दर स्पष्ट तौर पर ब्रह्म दान का महत्व बताया गया है। जो पुरुष स्वयं ब्रह्म ज्ञान प्राप्त कर के अथवा सामगानादि सीख कर अन्यों को उस का उपदेश देता है ताकि वे भी उससे लाभ उठा सकें वही सच्चा ऋषि विद्वान् याज्ञिक और ब्रह्मज्ञानी है न कि वह जो ज्ञान प्राप्त कर के घने जंगल में समाधि लगा कर बैठ जाता है। भगवद् गीता के छठे अध्याय में कृष्ण भगवान् ने—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाऽक्रियः॥ ६। १

इत्यादि श्लोकों द्वारा उपर्युक्त वैदिक भाव को ही स्पष्ट किया है—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।

छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ गीता ५। २५

इस श्लोक को पहिले भी उद्धृत किया जा चुका है। यहां ऋषियों के लिए कहा है कि वे सब भूतों के हित में तत्पर होते हैं। क्या इस का यही तात्पर्य नहीं कि वे योगसाधनादि द्वारा दिव्य शक्ति, शान्ति और ज्योति का अनुभव प्राप्त कर के दूसरों के हित के लिए उन का उपयोग करते हैं, हमारी सम्मति में तो इस श्लोक का यही अभिप्राय है। दान अपना कर्तव्य समझ कर ही करना चाहिये, मान प्रतिष्ठा प्राप्त करने के विचार से नहीं, तथापि राजस लोगों को दानादि में प्रवृत्त कराने के लिए वेद में 'दक्षिणावान् प्रथमो हूत एति' आदि प्रशंसात्मक वाक्य कहे गये हैं। किसी भी भाव से प्रेरित हो कर दान किया जाय अन्ततः दान करना धर्म है और दान न दे कर केवल अपना पेट भरना पाप और अनर्थ का हेतु है इस भाव से ऋ० १०। ११७। ३ में कहा है—

अथा नरः प्रयत दक्षिणासोऽवद्यभिया बहवः पृणन्ति ॥

अर्थात् (बहवः) बहुत से (प्रयतदक्षिणासः) दान देने का सामर्थ्य रखने वाले पुरुष (अवद्यभिया) पाप के भय से अथवा अनर्थ के डर से (पृणन्ति) निर्धनों को पालते वा दान देते हैं। बहुत से मनुष्य केवल अनर्थ वा पाप के भय से दान करते हैं इसी से यह अर्थापत्ति निकलती है कि कुछ सात्विक पुरुष पाप के भय से नहीं किन्तु केवल कर्तव्य समझ कर ही दानादि पुण्य कर्म करते हैं। इस प्रकार भगवद् गीता के सात्विक राजस दोनों का मूल यहां पाया जा सकता है। दान

बिना विवेक के नहीं होना चाहिये, किन्तु देश काल पात्र का विचार करके ही करना चाहिये, ऐसा जो गीता में सात्विक दान का लक्षण करते हुए कहा गया है वेद में भी आध्राय, रफिताय, कृशाय, नाधमानाय इत्यादि शब्दों द्वारा जो वस्तुतः गरीब हों जो कृश हों और काम में असमर्थ होने के कारण मांगने को बाधित हों, उन्हें अवश्य देना चाहिये। जो कठोर हृदय पुरुष ऐसे लोगों को भी दान नहीं देता और उस को तरसाता है उसे कभी कोई सुख देने वाला नहीं मिलता।

स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित् स मर्डितारं न विन्दते।

इत्यादि कह कर उसी भाव को सूचित किया गया है। केवल पात्र का ही दान देना चाहिये, इसी भाव का प्रकट करने के लिये—

न स सखा यो न ददाति सख्ये सचा भुवे सचमानाय पित्वः। नार्यमणं पुष्यति नो सखायम्॥

इत्यादि शब्द इस सूक्त में आये हैं जिन का अर्थ यह है कि अर्यमा अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों वा संस्थाओं की सहायता करना और आपत्ति के समय मित्रों की पूरी सहायता करना यह प्रत्येक पुरुष का कर्तव्य है। इस प्रकार दान के विषय में वेद के अत्युत्तम उपदेशों का निर्देश करते हुए हम कुछ और सामाजिक कर्तव्यों का वर्णन करना चाहते हैं।

ब्राह्मणों के कर्तव्य

इस बात के विस्तार में यहां पर जाने की आवश्यकता

नहीं कि वेद के अन्दर ब्राह्मणादि चार वर्णों में सारे समाज को बांटा गया है। यद्यपि ऐसे मन्त्र वेद में बहुत नहीं जहां ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन नामों से स्पष्ट वर्णों के कर्तव्यों का प्रतिपादन किया गया है तथापि अग्नि, इन्द्र, मरुत्, पूषा आदि देव नामों से इन चारों वर्णों के कर्तव्यों का वेद में वर्णन किया गया है इस में संदेह नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ—

अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः।
तमीमहे महागयम् ॥

इत्यादि मन्त्र में अग्नि पद से ज्ञानी ब्राह्मण का ग्रहण ही सर्वथा उचित मालूम होता है। उस अवस्था में अर्थ यह होगा कि (अग्निः) अग्नि के समान अज्ञानांधकार को दूर करने वाला ब्राह्मण (ऋषिः) तत्त्वदर्शी वा ज्ञानी (पवमानः) सब को पवित्र करने वाला (पांचजन्यः) पञ्चजन अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद इन सब प्रकारके मनुष्यों का हित करने वाला (पुरोहितः) सत्योपदेष्टा अग्रणी वा नेता है ऐसे (महागयम्) बड़े बड़े भारी विद्यादि ऐश्वर्य संपन्न ब्राह्मण को हम सब (ईमहे) चाहते हैं वा उस से सत्योपदेश करने की प्रार्थना करते हैं।

मैं समझता हूं कि अग्नि का यहां ज्ञानी ब्राह्मण नेता ऐसा अर्थ करने पर मन्त्र की संगति बहुत अच्छी तरह लग

जाती है। यह केवल मेरी मन-घड़न्त कल्पना नहीं है।

अग्नि देवता विषयक मन्त्रों में इस बात के स्पष्ट निर्देश पाए जाते हैं कि वहां भौतिक अग्नि और परमात्मा के अतिरिक्त इस ब्राह्मण अर्थ का स्पष्ट ग्रहण अभिप्रेत है। उदाहरणार्थ ऋ० ३।१।१७ में अग्नि को सम्बोधन करके कहा है—

आ देवानामभवः केतुरग्ने, मन्द्रो विश्वानि काव्यानि विद्वान्।

अर्थात् हे अग्ने, ज्ञानी ब्राह्मण तू (मन्द्रः) मृदु स्वभाव वाला और (विश्वानि) सम्पूर्ण (काव्यानि) काव्यों को (विद्वान्) जानने वाला हो कर (देवानाम्) अन्य साधारण विद्वानों का (केतुः) झण्डे के समान नायक (अभवः) हुआ है। यहां न तो भौतिक अग्नि का ग्रहण हो सकता है और ना ही मुख्यतः परमात्मा का किन्तु ब्राह्मण नेता का ग्रहण करने पर अर्थ बड़ा संगत प्रतीत होता है।

इसी प्रकार ऋ० ३।२।८ में अग्नि के विषय में—'रथीर्ऋतस्य बृहतो विचर्षणिरग्निर्देवानामभवत्पुरोहितः' ये शब्द आये हैं जिस का अर्थ यह है कि अग्नि (बृहतः ऋतस्य विचर्षणिः) बड़े विस्तृत सत्य का प्रकाश करने वाला (रथीः) शरीर रूपी अपने रथ का पूर्ण स्वामी और (देवानाम्)

विद्वानों का (पुरोहितः) नेता (अभवत्:) है। इस मंत्र का वर्णन भी भौतिक अग्नि और परमात्मा पर पूर्णतया न घट कर के ज्ञानी ब्राह्मण नेता पर ही ठीक तौर पर घटता है।

इसी प्रकार ऋ० ३६। ४ में अग्नि के बारे में कहा है—

व्रता ते अग्ने महतो महानि, तव क्रत्वा रोदसी आततन्थ। त्वं दूतो अभवो जायमानस्त्वं नेता वृषभ चर्षणीनाम्॥

अर्थात् हे ज्ञानी ब्राह्मण ! (महतः ते) बड़े ज्ञानादि गुण युक्त तेरे (महानि व्रता) बड़े भारी कार्य हैं। तू (तव क्रत्वा) अपने कर्म से (रोदसी) दोनों लोकों में (आततन्थ) विस्तृत हो रहा है-तेरे यश का सब लोकों में विस्तार हो रहा है (जायमानः) प्रसिद्ध होता हुआ तू (दूतः अभवः) दूत के समान उत्तम ज्ञान को सर्वत्र ले जाने वाला होता है और हे (वृषभ) अत्यंत श्रेष्ठ गुणकर्मस्वभाव वाले ब्राह्मण ! तू ही (चर्षणीनाम्) पुरुषों का (नेता) नायक होता है। यहां भी अग्नि के विषय में जो वर्णन है वह केवल ज्ञानी ब्राह्मण पर ही घट सकता है, भौतिक अग्नि और परमात्मा पर नहीं।

४. ऋ० ३। ११। १ में—

अग्निर्होता पुरोहितोऽध्वरस्य विचर्षणिः।
स वेद यज्ञमानुषक्॥

यह मन्त्र आया है जिस में अग्नि के विषय में कहा है कि वह (१) होता अथवा हवनादि करने वाला है। (२) वह पुरोहित अथवा हिताहित का उपदेश करने वाला है। (३) वह अध्वर अर्थात् अहिंसामय सम्पूर्ण उत्तम व्यवहार का प्रकाशक है। (४) वह यज्ञ के स्वरूप को अच्छी तरह जानने वाला है। यहां भी स्पष्ट है कि अग्नि का ज्ञानी ब्राह्मण अर्थ लेना ही सर्वथा योग्य है। इतने उदाहरणों से यह स्पष्ट पता लगता है कि वेद में अग्नि देवता के द्वारा प्रायः ब्राह्मण धर्मों का वर्णन किया गया है। (५) ऋ० १। १४६। ५ में अग्नि के विषय में कहा है कि—

अयं स होता यो द्विजन्मा विश्वादधे वार्याणि श्रवस्या।
मर्तो यो अस्मै सुतुको ददाश॥

इस मंत्र में अग्नि के लिए द्विजन्मा शब्द का प्रयोग आया है जो भौतिक और परमेश्वर पर नहीं घट सकता किन्तु निःसंदेह ब्राह्मण नेता पर ही चरितार्थ हो सकता है। सारे मंत्र का अर्थ यह होगा कि (अयं यः द्विजन्मा) यह जो ब्राह्मण है (सः) वही (होता) हवनादि करने वाला अथवा दान देने और लेने वाला है (हु-दानादानयोरादाने च) यह ब्राह्मण (विश्वा) सब (श्रवस्या) कीर्तियुक्त (वार्याणि दधे) श्रेष्ठ ऐश्वर्यों को धारण करता है (यः मर्तः) जो मनुष्य (अस्मै ददाश) इसे देता है उसको विद्यादि उत्तम ऐश्वर्य प्राप्त होता

है। ऋ० अ० ६। ३। ४० इस विषय में सब से अधिक स्पष्ट है जहां कहा है—'अग्निः शुचिव्रत तमः शुचिर्विप्रः शुचिः कविः। अग्नीरोचत आहुतः॥ यहां विप्र और इस प्रकार विवेचना से पता लगता है कि मनु महाराज ने—

अध्यापनमध्ययनं, यजन याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव, ब्राह्मणानामकल्पयत्॥

इत्यादि श्लोकों द्वारा ब्राह्मण के जो छः मुख्य कर्तव्य बताये हैं उस का आधार वेद मन्त्रों पर ही है। ऊपर उल्लिखित मन्त्रों में ये सब के सब धर्म आगये हैं। इस प्रकार के सच्चे ब्राह्मणों की पूजा करना सारे समाज का कर्तव्य है। ब्राह्मण स्वभाव से ही मृदु अथवा कोमल प्रकृति के होते हैं पर उन को ऐसा जान कर जो उस का अपमान करता है उस समाज और राष्ट्र का शीघ्र ही नाश हो जाता है इस बात को अथर्व पञ्चम काण्ड के १८ और १६ सूक्तो में बड़े जोर दार शब्दों में बताया गया है। काण्ड १० मन्त्र ३ में कहा है—

निर्वै क्षत्रं नयति हन्तिवर्चोऽग्निरिवारब्धो विदुनोति सर्वम्।
यो ब्राह्मणं मन्यते अन्नमेव स विषस्य पिबति तैमातस्य॥

अर्थात् ब्राह्मण को जो तुच्छ मानता है वह मानो एक घोर विष का प्याला पीता है। अपमानित सच्चा ब्रह्मज्ञानी पुरुष दुष्ट क्षत्रियों को अग्नि समान अपने तेज से दाह कर देता है। मन्त्र ५ में और भी स्पष्ट रीति से मृदु स्वभाव परन्तु तेजस्वी ब्राह्मण

अर्थात् ब्रह्मज्ञानी के अपमान करने का भयंकर परिणाम बताया है यथा—

य एनं हन्ति मृदुं मन्यमानो देवपीयुर्धनकामो न चित्तात्।
सं तस्येन्द्रो हृदयेऽग्निमिन्ध उभ एनं द्विष्टो नभसी चरन्तम्॥

अर्थात् जो पुरुष ब्राह्मण को कोमल स्वभाव समझ कर स्वयं हिंसक नीच होता हुआ धन के मद में अज्ञान से मारता वा अपमानित करता है (इन्द्रः) परमेश्वर उस पुरुष के हृदय में मानो शोकसन्ताप रूपी अग्नि को जला देता है और उस पुरुष को सब पृथिवी के लोग घृणा की दृष्टि से देखते हैं। इस मन्त्र में ब्राह्मणों का प्रकृति से कोमल होना स्पष्ट सिद्ध होता है। जिस राष्ट्र में सच्चे तपस्वी, स्वार्थहीन ब्राह्मणों का अपमान होता है उस राष्ट्र की भी निश्चय से दुर्गति होती है। इस विषय में अथ० ५। १९। ८ में स्पष्ट कहा है—

तद् वै राष्ट्रमास्रवति नावं भिन्नामिवोदकम्।
ब्राह्मणं यत्र हिंसन्ति तद्राष्ट्रं हन्ति दुच्छुना॥

अर्थात् (तद् राष्ट्रं) वह राष्ट्र (भिन्नां नावम्) टूटी हुई नौका में (उदकम् इव) जल के समान (आस्रवति) बह जाता है चकनाचूर हो जाता है (यत्र) जिस राष्ट्र में (ब्राह्मणम्) ब्रह्म-ज्ञानी ब्राह्मण को (हिंसन्ति) मारते हैं (दुच्छुना) दुर्गति (तद् राष्ट्रं) उस राष्ट्र का (हन्ति) नाश कर डालती है। वह राष्ट्र जहां सच्चे ब्राह्मणों का अपमान होता है कभी देर तक उन्नत अवस्था में रह नहीं सकता। दुर्गति अथवा हीन अवस्था होते होते अन्त में उस का सत्यानाश हो जाता है। यहां यह बात

ध्यान में रखने योग्य है कि 'ब्रह्मजानाति ब्राह्मणः' इसी अर्थ को ले कर यहां ब्रह्मज्ञानी के अर्थ में ब्राह्मण शब्द का प्रयोग है। न कि जाति मात्रोपजीवी लोगों की पूजा करने से इस का तात्पर्य है। अ० ५।१५।५ में शस्त्र धारी ब्राह्मण लोग जो विचित्र प्रकार का बाण छोड़ते हैं वह कभी व्यर्थ नहीं जाता। तप और मन्यु (Indignation) के साथ छोड़ा जाने के कारण वह बड़ी दूर तक अपना असर करता है ऐसा बताया है। यहां भौतिक शस्त्र के अभिप्राय नहीं किन्तु आत्मिक बल का अवलम्बन करते हुए जो स्वतन्त्रतादि के संरक्षण के लिए यथा सम्भव अहिंसात्मक, परन्तु प्रभाव-जनक साधन क म में लाये जाते हैं। उनसे तात्पर्य मालूम होता है। इस विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं।

क्षत्रियों के कर्तव्य

इन्द्र देवता के मन्त्रों में प्रायः क्षत्रियों के कर्तव्यों का निर्देश किया गया है, इसमें वाद विवाद का बहुत ही कम अवसर है। उदाहरणार्थ ऋ० प्रथम मण्डल का ८० सूक्त देखिये, जिस का देवता इन्द्र है। इस सारे सूक्त में नीच कपटी लोगों के साथ युद्ध करके प्रजा की रक्षा करने और उन की स्वतन्त्रता के संरक्षण करने के कारण ही इन्द्र की इतनी महिमा है, इस बात को बार बार स्पष्ट किया गया है। मं० ७ विशेष द्रष्टव्य है— 'इन्द्र तुभ्यमिदद्रिवोऽनुत्तं वज्रिन् वीर्यम्। यद्ध त्यं मायिनं मृगं तमु त्यं मायया वधीरर्चन्ननु स्वराज्यम्।' हे इन्द्र, बलशाली

(वज्रिन्) वज्र धारण करने वाले (अद्रिवः) आदरणीय वीर (तुभ्यं वीर्यम् अनुत्तम्) तेरे अन्दर बड़ा भारी वीर्य रखा हुआ है। (यद् ह त्यं मायिनं मृगम्) कि तू ने उस कपटी और सज्जनों का पीछा करने वाले वृत्र अर्थात् पापी पुरुष का (मायया) बड़ी चतुरता से (स्वराज्यम् अन्वर्चन) स्वराज्य अथवा स्वतन्त्रता के भाव की पूजा करते हुए (अवधीः) मार दिया। माया के छल, बुद्धि ये दोनों अर्थ निघण्टु आदि में दिये हैं। कपटी पुरुषों को मार कर स्वतन्त्रता संरक्षण करना क्षत्रियों का मुख्य धर्म है यह भाव यहां सूचित किया गया है।

यजु० अ० २० में इन्द्र देवता के अनेक मन्त्र हैं वे प्रायः सब क्षत्रिय धर्म की सूचना देने वाले हैं। उदाहरणार्थ मं० ४८ में कहा है—

'आ न इन्द्रो दूरादा च आसादाभिष्टिकृदवसे यासदुग्रः।
ओजिष्ठेभिर्नृपतिर्वज्रबाहुः संगे समत्सु तुर्वणिः पृतन्यून् ॥'

यहां इन्द्र के विषय में निम्न बातें कही हैं [१] इन्द्र उग्र अर्थात् कुछ कठोर स्वभाव का है। [२] वह अभीष्ट पूरा करने और रक्षण करने वाला है। [३] उस की भुजाएं वज्र के समान हैं अर्थात् वह बड़ा बलवान् है [४] युद्ध में वह शत्रुओं का मुकाबला करने वाला है। ये सब सच्चे क्षत्रियों के लक्षण हैं। मं० ५० इस विषय में विशेष विचारणीय है

जो इस प्रकार है—

'त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवे हवे सुहवं शूरमिन्द्रम् ।
ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः ॥'

इस मन्त्र में इन्द्र के निम्नलिखित विशेषण आये हैं।

१. त्राता=रक्षा करने वाला।

२. अविता=ज्ञान प्राप्त करने वाला। अव गतौ, गति= ज्ञान, गमन, प्राप्ति।

३. सुहवः=अच्छा दान देने वाला। हु—दानादानयोः।

४. शूरः=बहादुर।

५. शक्रः=शक्ति युक्त।

६. पुरुहूतः=बहुत से श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा स्वीकृत।

७. मघवा=धन युक्त।

ये सब लक्षण मुख्यतः एक वीर राजा और क्षत्रिय पर ही घट सकते हैं।

अथर्व वेद में देवता के मन्त्रों में क्षत्रिय के कर्तव्यों का बहुत उत्तम वर्णन है। उदाहरणार्थ अ० २०।११।६ में कहा है—

'महो महानि पनयंत्यस्येन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि।
वृजनेन वृजिनान् संपिपेष मायाभिर्दस्यूरभिभूत्योजाः ॥'

अर्थात् इन्द्र के श्रेष्ठ उत्तम कर्मों की सब प्रशंसा करते हैं क्यों कि इन्द्र (वृजनेन) अपनी शक्ति से (वृजिनान्)

पापियों को (संपिपेष) चूर चूर कर डालता है, और (मायाभिः) चतुरता से (दस्यून् अभिभूति) नीच स्वार्थ परायण लोगों को हरा डालता है। तात्पर्य यह है कि नीच लोगों का नाश कर के प्रजा का रक्षण करना ही प्रत्येक सच्चे क्षत्रिय का मुख्य धर्म है। इसी भाव को अ० २०। ५५। १ में प्रकाशित किया गया है यथा—

'तमिन्द्रं जोहवीमि मघवानमुग्रं सत्रा दधानमप्रतिष्कुतं शवांसि। मंहिष्ठो गीर्भिरा च यज्ञियो ववर्तद् राये नो विश्वा सुपथा कृणोतु वज्री।'

इस मन्त्र में इन्द्र के लिये जो गुणद्योतक शब्द आये हैं उन का थोड़ा सा निर्देश कर देना आवश्यक है।

१. मघवा=धन युक्त
२. उग्र=दुष्टों के प्रति कठोर।
३. सत्रादधानः=सत्य अथवा यज्ञ का धारण करने वाला।
४. श्रवांसि दधानः=कीर्ति को धारण करने वाला।
५. गीर्भिः मंहिष्ठः=उत्तम वाणीवाला।
६. यज्ञियः=यज्ञादि शुद्ध कर्म करने वाला अथवा पूजनीय।
७. वज्री=वज्रादि शस्त्रास्त्र धारण करने वाला।

इस मन्त्र में क्षत्रियों के लिये उत्तम वाक् शक्ति कीर्ति इत्यादि को धारण करना भी आवश्यक बताया गया है। इस प्रकार निःसन्देह इन्द्र देवता विषयक अनेक मन्त्र आधिभौतिक अर्थ में क्षत्रियों के कर्तव्यों का निर्देश करने वाले हैं।

वैश्यों के कर्तव्य

वैश्यों के कर्तव्यों का वेद में अनेक स्थानों पर स्पष्ट वर्णन है। उदाहरणार्थ अथर्व ३।१५।२ में एक वैश्य के मुख से निम्न लिखित प्रार्थना उच्चारण कराई गई है।

'ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी सं चरन्ति।
ते जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि॥'

अर्थात् 'द्युलोक पृथिवी लोक के अन्दर जो देवयान अनेक मार्ग हैं उन सब से मुझे घृत या दीप्ति और पय वा रस की प्राप्ति हो ताकि मैं दूर दूर देशों में यानों द्वारा भ्रमण कर के धन एकत्रित करूं। इस मन्त्र से पृथिवी पर चलने वाले यानों के अतिरिक्त अन्तरिक्ष में चलने वाले विमानादि की कल्पना बहुत ही साफ तौर पर मालूम होती है। देवयानों द्वारा धन सम्पादन करने से तात्पर्य उत्तम धर्म युक्त साधनों द्वारा धन इकट्ठा का भी मालूम होता है। इसी सूक्त के मं० ३ में—

'शुनं नो अस्तु प्रपणो विक्रयश्च प्रतिपणः फलिनं मा कृणोतु।'

ऐसी प्रार्थना है जिसका अर्थ यह है कि बेचने वगैरह में मुझे घाटा न हो बल्कि मुनाफा वा लाभ हो। मं० ४ और ५ में जिस धन को लेकर मैं व्यापार प्रारम्भ करता हूं उस में मुझे लाभ ही होता जाए और राजादि के द्वारा मुझे व्यापार के लिये प्रोत्साहन मिलती रहे यह भाव प्रकट किया गया है—

'येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः।
तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्ने सातघ्नो देवान् हविषा निषेध।'

इत्यादि मन्त्र इसी भाव के सूचक हैं। धन का सम्पादन करना अपने स्वार्थ के लिये नहीं बल्कि ब्राह्मणादि की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये होना चाहिये इस भाव को इसी सूक्त के अन्तिम मन्त्र में स्पष्ट किया गया है, जहां अग्नि को सम्बोधन करते हुए कहा है कि—

विश्वाहा ते सदमिद्भरेमाश्वायेव तिष्ठते जातवेदः।
रायस्पोषेण सुमिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम॥

अर्थात् (जातवेदः अग्ने) ज्ञानी ब्राह्मण नेतः! जिस प्रकार अश्व को खाने के लिये घास वगैरह दिया जाता है उसी प्रकार हम (विश्वाहा) प्रति दिन (सदमित्) नित्य ही (ते भरेम तेरा पालन करते रहें। स्वय धन की समृद्धि और अन्न से आनन्द करते हुए तेरे (प्रतिवेशा) प्रतिकूल हो कर (मा रिषाम) हम कभी दुःखी न हों। तात्पर्य यह है कि धन के मद से मस्त होकर पूज्य ब्राह्मणों का तिरस्कार जो करते हैं उन्हें अन्त में अवश्य दुःख उठाना पड़ता है अतः ऐसे पूज्यों की पूजा करते हुए ही धनियों को सदा सुखी रहना चाहिये।

यजु० अ० १२ में मं० ६७ से ७१ तक हल चलाने वगैरह वैश्य-कर्त्तव्यों का उत्तम वर्णन आया है। इन में—

'शुनं सुफाला विकृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभियन्तु वाहैः।'

इत्यादि मन्त्र विशेष दर्शनीय हैं जिन का अर्थ स्पष्ट है कि अच्छे हल द्वारा पृथिवी को सुख पूर्वक जोता जाए और भूमि जोत कर सुख पूर्वक रहें इत्यादि। इस कृषि की महिमा में ऋ० १०।३४।१३ में द्यूत की निन्दा करते हुए स्पष्ट आदेश किया

गया है कि—

'अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।'

अर्थात् जुआ न खेलो किन्तु कृषि करते हुए आनन्द से धन सम्पादन करो। इस मन्त्र से न केवल वैश्यों अपितु अन्यों को भी थोड़ी बहुत खेती करनी चाहिये यह भाव निकलता है। उस पर विचार करना चाहिये।

भगवद् गीता अ० १८ में कृष्ण महाराज ने वैश्यों के कर्मों का प्रतिपादन करते हुए—

कृषिगोरक्षवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।

ऐसा कहा है। वेद के अनुसार कृषि और वाणिज्य का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। गोरक्षा के विषय में देखिये वेद में कितना उत्तम भाव प्रकट किया गया है। अथर्व ४। २१ में गौओं की महिमा के सम्बन्ध में अनेक मन्त्र आये हैं जिन में गौओं को बड़ी भारी सम्पत्ति बताया है यथा—

गावो भगो गाव इन्द्रो म इच्छात्।

गौएं वास्तव में बड़ी भारी सम्पत्ति हैं राजादि भी इन गायों के दूध पर आश्रित होने के कारण इन्हें चाहते हैं। मं० ६ में कहा है कि—

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित्कृणुता सुप्रतीकम्।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद् वो वय उच्यते सभासु॥

इस का अभिप्राय यह है कि 'हे गौओ! तुम कृश अर्थात् निर्बल पुरुष को भी बलवान् बना देती हो, तुम शोभा अथवा तेज से रहित पुरुष को तेजस्वी बना देती हो, तुम सारे गृह को सुख-

मय बना देती हो इस लिये सभाओं में सब पुरुष तुम्हारी बड़ी भारी महिमा गाते है। जिन गौओं की इतनी महिमा वेद में अनेक स्थानों पर बताई गई है उन्हीं के मारने का वहां वर्णन होगा यह बात कल्पना में भी नहीं आ सकती है। वेद में सर्वत्र गौओं के लिये अघ्न्या शब्द का प्रयोग आया है उदाहरणार्थ—'सूयवसाद् भगवती हि भूयो अथो वयं भगवन्तः स्यनि। अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती ॥ ऋ० १। १६४। ४०। यो अघ्न्याया भरति क्षीर मग्ने ऋ० १०। ८७। १६ 'अन्तकाय गोघातम्' (य० ३०। १८) इत्यादि में गोघातक के लिये प्राण दण्ड तक का विधान। 'शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे' ये शब्द हजारों मन्त्रों में आये हैं जो इस बात की स्पष्ट सूचना देते हैं कि न केवल गौओं की बल्कि सभी पशुओं की रक्षा करना सामान्यतः सभी वर्णों विशेषतः वैश्यों का कर्तव्य है। इस विषय में अधिक लिखने की जरूरत नहीं।

शूद्रों के कर्तव्य

शूद्रों के कर्तव्यों के विषय में यहां कुछ ज्यादह वक्तव्य नहीं है। 'तपसे शूद्रम्' कह कर यजुर्वेद अ० ३० में श्रम के कार्य के लिये शूद्र को नियुक्त करो यह आदेश किया गया है। इसी अध्याय में कर्मार नाम में कारीगर, मणिकार नाम से जौहरी, हिरण्यकार नाम से सुनार, रजयिता के नाम से रंगरेज, तक्षा के नाम से शिल्पी, वप नाम से नाई, अयस्ताप नाम से लोहार, अजिनसन्ध नाम से चमार, परिवेष्टा नाम से परोसने वाले रसोइये इत्यादि का वर्णन है ज्ञान शम, दम, इत्यादि उच्च

गुणों की इनके अन्दर कमी होती है अतः ये शिल्प या नौकरी द्वारा पहले तीन वर्णों की सेवा कर अपना पेट भरते हैं। इन चारों वर्णों के लोगों को एक दूसरे के साथ अत्यन्त प्रेम से व्यवहार करना चाहिये। हरेक पुरुष को अपना व्यवहार ऐसा रखना चाहिये जिससे सब वर्णों के पुरुष उसको प्रेम से देखें।

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रिय सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये॥

अथर्व १६। ६२। १

इत्यादि वेद मन्त्रों में इसी ऊपर कहे हुए भाव को साफ तौर पर प्रकट किया गया है।

राष्ट्रीय कर्तव्य

अब राष्ट्रीय कर्तव्यों के विषय में थोड़ा सा कथन करना है। वेद में राष्ट्रीय भाव की कल्पना है इस से कोई भी निष्पक्ष-पात विचारक इंकार नहीं कर सकता। सैंकड़ों स्थानों पर वेदों में भूमि के लिये माता शब्द का प्रयोग किया गया है। राष्ट्र के हित की ओर सभी वेदों में अनेक बार ध्यान आकर्षित किया गया है। ऋग्वेद मं० ५ में मरुतों अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों के विषय में जो अनेक सूक्त आए हैं उन में बार बार 'पृश्निमातरः' यह मरुतों का विशेषण दिया है उदाहरणार्थ ५। ५७। २ में कहा है—

स्वश्वाः स्थ सुरथाः पृश्निमातरः।
स्वायुधा मरुतो याथना शुभम्॥

इस का अर्थ यह है कि मरुत् उत्तम अश्वरथ शस्त्रादि से युक्त और भूमि को अपनी माता मानने वाले अथवा मातृभक्त, देशभक्त हैं। वे सदा शुभ कर्म में तत्पर रहते हैं। ५। ५६। ६ में इन्हीं मरुतों के बारे में कहा है—

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा विवावृधुः। सुजातासो जनुषा पृश्निमातारो दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन ॥

इस मन्त्र में सब के सब मरुतः अर्थात् मनुष्य समानता के सत्य सिद्धांत को समझते हुए (उद्भिद्ः) सदा ऊपर उठते हुए (महसा) अपने तेज से (विवावृधुः) विशेष उन्नति करते हैं। वे सब (पृश्निमातरः) भूमि वा देश को माता के समान मानने वाले और (दिवो मर्याः) प्रकाशमय परमेश्वर के पुत्र अर्थात् परमेश्वर को अपना सच्चा पिता मानने वाले हैं। इस प्रकार उनका अत्युत्तम जन्म है वे हमें प्राप्त होवें। यह भाव सूचित किया गया है।

ऋ० मन्त्र १०। १८ में कई मन्त्र मातृभूमि की स्तुति के विषय में आये हैं। उदाहरणार्थ मन्त्र १० में उपदेश है—'उपसर्प मातरं भूमिमेताम्' (एतां) इस (भूमिं मातरम्) मातृभूमि की (उपसर्प) सेवा करो। मन्त्र ११ में मातृभूमि से एक सच्चे भक्त की प्रार्थना है—

उच्छ्वञ्चस्व पृथिवि मा निबाधथाः सूपायनास्मै भव सूपवञ्चना। माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनं भूम ऊर्णु हि ॥

अर्थात् हे (पृथिवि) मातृ भूमे (उच्छ्वञ्चस्व) तू हमें

सदा उन्नत कर के सुख दे (मा निबाधथाः) कभी हमें कष्ट न दे (अस्मै) इस भक्त के लिए तू (सूपायना सूपवञ्चना भव) उत्तम वस्तुओं को प्राप्त कराने वाली हो (माता पुत्रं यथा) जिस प्रकार माता पुत्र को प्रेम करती है वैसे तू (सिच) हमें प्रेम कर (एनम् अभि ऊर्णुहि) इस भक्त को सब ओर से सुरक्षित कर दे। मातृभूमि के प्रति यह हार्दिक प्रार्थना है। ऐसे मन्त्रों में भूमि की एक जीवित जागृत देवी के रूप में कल्पना की गई है। जब तक हम पृथिवी आदि को केवल अचेतन वस्तु समझते हैं तब तक उस के साथ अपना आन्तरिक प्रेम सूचित नहीं कर सकते, अतः काव्य दृष्टि से वेद में उपर्युक्त प्रकार के वर्णन को प्रधानता दी गई है। देवों का वर्णन करते हुए वेद में—

'अप्रथयन् पृथिवीं मातरं वि'

ऋ० १० । ६२ । ३ ये शब्द आये हैं, जिन का अर्थ है कि देव लोग अपने शुभ कर्मों से मातृभूमि के यश का विस्तार करते हैं। इस बात का पहले उल्लेख किया जा चुका है। अब यजुर्वेद में इस विषय को देखिये—

१. यजु० २ । १० में ये शब्द आए हैं—'उपहूता पृथिवी मातोप मां पृथिवी माता ह्वयताम्' इन का भाव यह है कि मैंने पृथिवी वा देश को (माता उपहूता) माता के रूप में अपने हृदय में स्वीकार किया है (पृथिवी माता माम् उपह्वयताम्) मातृभूमि भी मुझे अपने पुत्र के रूप में स्वीकार करे। प्रत्येक पुरुष यदि अपने देश को माता के समान समझे तो निःसन्देह मातृभूमि का हित होता है और पुत्रों का कल्याण होता है यह भाव ऊपर के

मन्त्र में है।

२. यजु० अ० ६ में निम्न लिखित मन्त्र आया है—

अस्मे वो अस्त्विन्द्रियमस्मे नृम्णमुत क्रतुरस्मे वर्चांसि सन्तु वः। नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्यै ॥ ६ ।

यहां देव अर्थात् ज्ञानी लोगों से प्रार्थना है (अस्मे) हमारे अन्दर (वः इन्द्रियम् अस्तु) तुम्हारे जैसी बलयुक्त इन्द्रियां हों (नृम्णम्) तुम्हारे जैसा धन हो (उत क्रतुः) और पुरुषार्थ करने का जो उत्साह हो (अस्मे वः वर्चांसि सन्तु) हमारे अन्दर तुम्हारे जैसा तेज हो (नमो मात्रे पृथिव्यै) पृथिवी माता= मातृभूमि को हमारा नमस्कार हो। जिस मातृभूमि के तुम्हारे जैसे योग्य पुत्र हैं, उस माता को हम नमस्कार करते हैं और साथ ही इन्द्रिय, धन, उत्साह, तेज आदि को धारण करते हुए हम भी उस मातृभूमि की सेवा में तत्पर रहेंगे, यह भाव यहां सूचित किया गया है।

३. यजु० अ० १० मन्त्र २३ में 'पृथिवि मातर्मा मा हिंसीर्मो अहं त्वाम्' ये शब्द आये हैं जिन में पृथिवी को माता मानते हुए कहा है कि तू हमें कभी कष्ट न दे, मैं तुझे कभी कष्ट न दूं। अभिप्राय यह है कि मैं कभी कोई ऐसा काम भूल कर भी न करूं जिस से मातृभूमि का अहित हो। इस प्रकार करने से मातृभूमि द्वारा मेरा सदा कल्याण होगा इस में सन्देह नहीं।

४. यजु० अ० १७ मन्त्र ३ में प्रार्थना है—

अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता जयन्तु।
अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्मां उ देवा अवता हवेषु ॥

यहां अपने देश के वीरों के विजय की कामना करते हुए मातृभूमि के प्रति प्रेम का भाव सूचित किया गया है।

५. यजु० अ० २२ कण्ड २२ वां मन्त्र वैदिक राष्ट्रीय भाव की कल्पना के विषय में अत्यंत सुप्रसिद्ध है उसका केवल उल्लेख कर देना ही पर्याप्त है।

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम् दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठा सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्। निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न औषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो न कल्पताम्॥

इस मन्त्र में ब्राह्मण लोग हमारे राष्ट्र में सच्चे ब्रह्मतेज का धारण करने वाले हों, क्षत्रिय शूरवीर बाण चलाने में निपुण महारथी हों, वैश्य उत्तम गौ बैल आदि से युक्त हों, स्त्रियां भी (पुरन्धिः) बहुत बुद्धि वाली और कर्म करने वाली हों यह प्रार्थना है। धी शब्द के निघण्टु में बुद्धि कर्म दोनों अर्थ दिये हैं। इस प्रकार जो प्रार्थना की गई है वह विशाल वैदिक राष्ट्रीयता के भाव की सूचना देती है।

अब अथर्ववेद के अन्दर पाये जाने वाले राष्ट्रीयता के भावों और कर्तव्यों पर दृष्टि दौड़ानी है।

१. अथर्व तृतीय काण्ड के चतुर्थ सूक्त में राज्याभिषेक का वर्णन है।

'सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्वयन्तु'

'त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः'

इत्यादि से राजा के प्रजा द्वारा चुने जाने का भाव अत्यंत स्पष्ट है। ग्रिफिथ महोदय ने टिप्पणी में लिखा है—

Such passages show that the kingship was sometimes elective.

अ० ३।४।२ का भाषांतर उन्होंने इस प्रकार किया है-

The tribesmen shall elect thee for the kingship. These five celestial regions shall elect thee.

इत्यादि इस प्रकार जब राजा का चुनाव भी प्रजा द्वारा होता होगा तो प्रजा का राष्ट्रीय भाव कितना ऊंचा होता होगा, इस की कल्पना की जा सकती है। अ० ३।५।२ में प्रार्थना है 'अहं राष्ट्रस्याभी वर्गे निजो भूयासमुत्तमः' अर्थात् मैं अपने राष्ट्र के अन्दर अत्यंत श्रेष्ठ होऊं। प्रत्येक पुरुष को इस प्रकार सर्वोत्तम बनने की भावना धारण करनी चाहिये ताकि राष्ट्र उन्नत हो सके। अथर्व० ३।८।१ में कहा है—

अथास्मभ्यं वरुणो वायुरग्निर्बृहद् राष्ट्रं संवेश्य दधातु।

अर्थात् वरुण-सर्वश्रेष्ठ परमात्मा वा विद्वान्, वायु-

बलवान् पुरुष, अग्नि-ज्ञानी नेता ये सब हमारे राष्ट्र को (बृहद्) बड़ा और (संवेश्यम्) शांति युक्त बनाएं। ग्रिफिथ महोदय का भाषांतर इस इस प्रकार है—

'Let Agni, Varuna and Vayu mak our dominion tranquil and exalted.'

इस मन्त्र के अन्दर राष्ट्र को उन्नत और शांति युक्त रखने का भाव साफ़ तौर पर पाया जाता है। ३. अथर्व ३। १९। ५ के अन्दर ब्राह्मण पुरोहित प्रधानामात्य की हैसीयत से निम्न लिखित शब्दों का उच्चारण करता है—

एषामहमायुधा संस्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि।
एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्णवेषां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः॥

अर्थात् (अहम्) मैं (एषाम्) इन सब के (आयुधा) शस्त्रों को (संस्यामि) तेज करता हूं (एषां राष्ट्रं) इन के राष्ट्र को (सुवीरं वर्धयामि) अच्छे वीर पुरुषों से युक्त कर के उन्नत करता हूं (एषां क्षत्रम्) इस देश के लोगों का क्षत्रिय समुदाय (जिष्णु) विजय शील और (अजरम् अस्तु) अविनाशी हो (विश्वे देवाः) सब ज्ञानी ब्राह्मण (एषां) इन देशवासियों के (चित्तम् अवन्तु) ज्ञान की रक्षा करें। यह मंत्र अत्यंत महत्वपूर्ण निर्देशों से युक्त है। इस के अंदर निम्न लिखित मुख्य तत्व हैं—

१. शस्त्रास्त्रादि की ठीक व्यवस्था करना और राष्ट्र को

वीर बना कर उन्नत करना ब्राह्मणों का विशेषत: प्रधानामात्य का भी धर्म है ।

२. क्षत्रियों की शक्ति को बढ़ाने की ओर प्रत्येक देश-निवासी का ध्यान होना चाहिये ।

३. प्रजा को सुशिक्षित करने का काम ब्राह्मणों के हाथ में होना चाहिये ।

४. अथर्व ६ । ३९ । २ में निम्न लिखित प्रार्थना है—

अच्छा न इन्द्र यशसं यशोभिर्यशस्विनं नमसाना विधेम।
स नो रास्व राष्ट्रमिन्द्रजूतं तस्य ते रातौ यशसः स्याम ॥

अर्थात् हे परमेश्वर तू हम सब को यशस्वी बना । यशस्वी हो कर हम नम्रता से तेरी ही पूजा करें (नः) हमें (इन्द्र जूतं) ऐश्वर्य युक्त धन धान्य सम्पन्न (राष्ट्रं रास्व) राष्ट्र को दे, ताकि (ते रातौ) तेरे दान में हम (यशसः स्याम) अत्यंत यशस्वी होवें ।

इस मन्त्र में भी ऐश्वर्य युक्त राष्ट्र की जो प्रार्थना की गई है वह विशेश ध्यान देने योग्य है उस से वेद के अन्दर राष्ट्रीय हित की भावना को कितना महत्व दिया गया है इस बात का अनुमान किया जा सकता है ।

५. अथर्व ७ । ६ । २ के अन्दर मातृभूमि को किस प्रकार उन्नत करने का यत्न करना चाहिये इस बात को निम्न शब्दों द्वारा बताया गया है—

महीमृषु मातरं सुव्रतानामृतस्य पत्नीमवसे हवामहे ।
तुविक्षत्रामजरन्तीमुरूचीं, सुशर्माणमदितिं सु-प्रणीतिम् ॥

इस मन्त्र में मातृ-भूमि के लिए निम्न विशेषण कहे हैं—

१. सुव्रतानाम् ऋतस्य पत्नीम्=उत्तम व्रत धारण करने वालों के ज्ञान की रक्षा करने वाली ।

२. तुविक्षत्राम्=बहुत क्षात्र बल से युक्त ।

३. अजरन्तीम्=जीर्णावस्था वा अवनति को न प्राप्त होती हुई ।

४. उरूचीम्=अत्यंत विस्तृत ।

५. सुशर्माणम्=उत्तम सुख देने वाली ।

६. अदितिम्=बंधन रहित अर्थात् स्वतन्त्र ।

७. सुप्रणीतिम्=उत्तम नीति से युक्त ।

इन सब विशेषणों का मनन करने से मातृभूमि के विषय में वैदिक कल्पना समझ में आ सकती है । प्रत्येक पुरुष का चाहे वह किसी भी वर्ण का हो यह कर्तव्य है कि वह उपर्युक्त गुणों से मातृभूमि को सम्पन्न करने के लिये अपनी योग्यतानुसार प्रयत्न क । ग्रिफिथ महोदय ने इस मन्त्र का भाषांतर इस प्रकार किया है—

We call for help the Queen of Law and order. Great Mother of all those ways are righteous far spread, unwasting, strong in her

dominions, Aditi wisely leading, well protecting

भावार्थ लगभग वही है जो ऊपर दिया गया है। अदिति का अर्थ यहां स्पष्ट करने का यत्न नहीं किया गया उस का अर्थ बंधन रहित सुप्रसिद्ध है जैसे कि निरुक्त में 'अदीना देवमाता' द्वारा बताया गया है। यही मंत्र यजुर्वेद में भी आया है।

६. अथर्व का १२ वां काण्ड सारा ही राष्ट्रीय गीत है। इस में मातृभूमि के प्रति जो प्रेम का भाव प्रकट किया गया है वह सब दृष्टियों से अद्भुत है।

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।
सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः।
तस्मै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः॥

इत्यादि मन्त्र मातृभूमि के प्रति बहुत ही शुद्ध भक्ति भाव का प्रकाश करने वाले हैं।

ये ग्रामा यदरण्यं या सभा अधि भूम्याम्।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते॥

इस ५६ वें मन्त्र में ग्राम, जंगल, सभा, समिति, रण स्थल सर्वत्र प्रत्येक पुरुष को मातृ भूमि के हित का चिन्तन करना चाहिये यह बात साफ शब्दों में बताई है। इसी सूक्त के ६२ वें मन्त्र में मातृ भूमि को सम्बोधन करते हुए—

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवी प्रसूताः।

हम तेरी सेवा में नीरोग होकर सदा उपस्थित रहें तथा तेरे में उत्पन्न पदार्थों का ही उपयोग करें।

दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम।

यह जो प्रार्थना है वह अत्यन्त शुद्ध देश भक्ति पूर्ण हृदय का उद्गार है जिसका तात्पर्य यह है कि (वयं) हम सब (प्रतिबुध्यमानाः) ज्ञानी बनते हुए (तुभ्यं) तेरे लिए (बलि-हृतः स्याम) आवश्यकता होने पर अपने प्राणों की भी बलि वा आहुति देने को उद्यत रहें और तेरी सेवा करने के लिये (नः दीर्घमायुः) हमारी दीर्घ आयु हो। इन मंत्रों की व्याख्या अनेक विद्वानों द्वारा पहले भी की जा चुकी है, अतः यहां फिर से मन्त्रों का विशेष विवरण करने की आवश्यकता नहीं मालूम होती।

इस प्रकार सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्यों के बारे में वैदिक दृष्टि से बहुत कुछ विचार किया जा चुका है। यहां प्रश्न एक यह उपस्थित होता है कि देवियों का भी इन सामा-जिक वा राष्ट्रीय कर्तव्यों के अन्दर वेद के अनुसार हाथ होना चाहिये वा नहीं। इस विषय पर थोड़ा प्रकाश दूसरे परिच्छेद में डाला जा चुका है तो भी निम्न लिखित दो तीन और मंत्रों पर इसके सम्बन्ध में किचार करना चाहिये।

१. ऋग्वेद म० २ अ० ४१ में सरस्वती को सम्बोधन करते हुए कहा है—

अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति ।
अप्रशस्ता इव स्मसि, प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि ॥

अर्थात् हे (अम्बितमे) माताओं में श्रेष्ठ (नदीतमे) उपदेशिकाओं में श्रेष्ठ (देवितमे) देवियों में श्रेष्ठ (सरस्वती) विद्यावती देवी (अप्रशस्ता इव स्मसि) हम सब कुछ दुर्गुणों से युक्त हैं (अम्ब) हे मातः (न प्रशस्तिम् कृधि) हमें इन दुर्गुणों वा बुराइयों से दूर करके उत्तम गुणी बनाओ नद धातु का अर्थ शब्द करना धातु पाठ में दिया ही है। इस लिये मन्त्र का स्पष्ट तात्पर्य यह है कि विदुषी स्त्रियों को दूसरों के दोषों को अपने उपदेशों द्वारा दूर करके सब को गुणी बनाने का अवश्य यत्न करना चाहिये ।

२. यजु० अ० २६ । ३३ में निम्न मन्त्र आया है—

आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विडा मनुष्वदिह चेतयन्ती ।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं स्योनं सरस्वती स्वपसः संदन्तु ॥

इस मन्त्र में भारती इडा सरस्वती इन तीन प्रकार की देवियों के नाम आये हैं । इन से कई विद्वानों ने मातृ भूमि, मातृ भाषा तथा मातृ सभ्यता इत्यादि अर्थों का ग्रहण किया है । वह भी उन का अर्थ हो सकता है किन्तु यहां उन अर्थों का ग्रहण करने पर मन्त्र का भाव विशेष स्पष्ट नहीं होता । मेरे विचार में यहां भारती इडा सरस्वती पदों से २४, २०, १६ वर्ष की ब्रह्मचारिणियों का ग्रहण हो सकता है । इस के लिये इसी अध्याय के ८वें

मन्त्र में—

आदित्यैर्नो भारती वष्टु यज्ञं, सरस्वती सह रुद्रैर्न आवीत्।
इडोपहूता वसुभिः सजोषा यज्ञं नो देवीरमृतेषु धत्त॥

इस प्रकार जो आदित्य, रुद्र, वसु, ब्रह्मचारियों से इन का सम्बन्ध जोडा गया है वही आधार है पर इस विषय में निश्चय से कुछ कहना कठिन है। खैर इन तीनों पदों से ज्ञानादि गुण युक्त देवियों का ग्रहण है इतनी बात निर्विवाद है। तब अर्थ होगा कि (भारती) भरण पोषण का उपदेश करने वाली देवी (नः यज्ञ) हमारे सम्मेलन में (तूयम् एतु) शीघ्र आए (मनुष्वत्) मननशील ज्ञानियों की तरह (चेतयन्ती) उत्तम बातों का बोध कराने वाली (इडा) उत्तम वाणी युक्त देवी यहां जल्दी आए। इसी प्रकार सरस्वती परम्पर प्राप्त ज्ञान से संपन्न विदुषी देवी यहां हमारे यज्ञ में सम्मिलित होवे। ये (स्वपसः) शुभ कर्म करने वाली (तिस्रः देवीः) तीनों तरह की देवियां (एनं) इस (स्योनं बर्हिः) सुखदायक आसन को (सदन्तु) अलंकृत करें। इस मंत्र से साफ है कि पुरुषों के समान सत्यासत्य का उपदेश कर के कर्तव्यों का बोध कराना देवियों का भी कर्तव्य है और सब सज्जनों का कर्तव्य है कि ऐसी योग्य देवियों को सभा सम्मेलनों में विशेष रूप से निमन्त्रण देवें।

३. अथर्व ७। ४८। २ का निम्न मंत्र भी यहां विचार

करने योग्य है।

यास्ते राके सुमतयः सुपेशशो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि।
ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रपोषं सुभगं रराणा।

इसका अर्थ यह है कि हे (राके) पौर्णमासी के समान सब को आह्लादित करने वाली देवी! (याः ते सुमतयः) जो तेरी उत्तम बुद्धि है और जो (सुपेशसः) उत्तम तेरा रूप है (याभिः) जिन से तू (दाशुषे वसूनि ददासि) श्रद्धालु भक्त को उत्तम ऐश्वर्य का दान करती है (सुमनाः) उत्तम प्रसन्न मन वाली तू (ताभिः) उन बुद्धि और रूप के साथ (नः उपागहि) हमारे पास आजा। हे सौभाग्यवती देवी! (सहस्र पोषं रराणा) अत्यन्त उत्तम पुष्टि को देती हुई तू हमारे समीप आजा। तात्पर्य यह है कि देवियों को अपने अन्दर उत्तम गुणों को धारण करते हुए दूसरों के उपकार के लिये सदा उद्यत रहना चाहिये। लेख विस्तार के भय से इस विषय में अधिक प्रमाण देना अनावश्यक है। इन वेदोक्त सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्यों का हमें बार बार मनन मनन करना चाहिये। प्रत्येक वेदानुयायी पुरुष और स्त्री को अपनी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों का विकास करते हुए परोपकार में उन्हें लगा देना चाहिये। मातृ भूमि की सेवा करना प्रत्येक पुरुष का प्रधान धर्म है कभी कोई ऐसा कार्य न करना चाहिये जिससे मातृ भूमि का अहित होता हो। इस प्रकार वैदिक आर्य जीवन बनाते हुए ही हम अपने जीवन को पूर्ण सुखमय बना सकते हैं अन्यथा नहीं। ★

चतुर्थ परिच्छेद

वैदिक कर्तव्यशास्त्र पर तुलनात्मक विचार

इस परिच्छेद में ईसाई और बौद्ध मत के ग्रन्थों की कर्तव्य शास्त्र विषयक कुछ उत्तम शिक्षाएं लेकर उन की वैदिक कर्तव्य शास्त्र के साथ संक्षेप से तुलना करने का विचार है। बाइबल के पुराने और नये वसीयत नामे के नाम से दो मुख्य भाग हैं। इन में से पुराने वसीयत नामे में वस्तुतः कर्तव्य-शास्त्र विषयक कोई उल्लेख योग्य महत्वपूर्ण शिक्षा नहीं पाई जाती। दस आज्ञाएं अन्यों की अपेक्षा कुछ उच्च कोटि की हैं उन का नीचे उल्लेख किया जाता है।

१. परमेश्वर के आगे और किसी को देवता न मानना,
२. कोई मूर्ति वा प्रतिमा तू ने न बनाना न उनकी पूजा करना,
३. व्यर्थ परमेश्वर का नाम न लेना,
४. साबाथ दिन को पवित्र रखना,
५. तू ने किसी को न मारना,
६. व्यभिचार न करना,
७. चोरी न करना,
८. अपने पडोसी के विरुद्ध साक्षि न देना,
९. अपने माता पिता का सत्कार करना,
१०. अपने पडौसी का घर, स्त्री, नौकर चाकर, बैल गधा अथवा अन्य कोई भी चीज तू लेने की इच्छा न कर।

ये १० आज्ञाएं एक्सोडस (Exodus) नामक पुस्तक के २० वें अध्याय में पाई जाती हैं। इन आज्ञाओं में कोई अपूर्व अथवा विशेष महत्व पूर्ण बात नहीं है। इन में से ५, ६, ७, ८ और १० संख्या पर दी हुई आज्ञाएँ क्रमशः अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, सत्य यथा अपरिग्रह का संकुचित रूप में उपदेश करने वाली हैं। यहां यद्यपि न मारने की सामान्य आज्ञा है तथापि लेविटिकस अ० ४ इत्यादि में साफ ही पाप के प्रायश्चित के रूप में बकरी, बकरे, बैल इत्यादि की बलि चढ़ाने का विधान है, इस लिये यहां वह व्यापक योगशास्त्र में वर्णित अहिंसा तत्व नहीं जिस की व्याख्या करते हुए भाष्यकार व्यास मुनि ने कहा है—तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः। वही बात ब्रह्मचर्यादि के विषय में भी सत्य है। अब गौतम बुद्ध भगवान् ने अपने शिष्यों को जो दस बुरी बातें छोड़ने का उपदेश किया था उस का यहां तुलनात्मक रीति से निर्देश किया जाता है।

१. किसी को न मारो पर जीवन के लिए आदर रखो।

२. चोरी न करो न लूटो किन्तु प्रत्येक को अपने परिश्रम के फल का स्वामी बनने में सहायता दो।

३. अपवित्रता से दूर रह कर पवित्र जीवन व्यतीत करो।

४. असत्य न बोलो किन्तु सत्यवादी बनो। निर्भयता और प्रेम पूर्ण हृदय से विवेक पूर्वक सत्य बोलो।

५. दूसरों के दोष न देखते फिरो और न अपने साथियों के विषय में झूठी बातें घड़ते रहो।

६. शपथ न खाओ किन्तु प्रभाव-जनक रूप से उत्तम बात बोलो।

७. व्यर्थ बातचीत में समय न गंवाओ किन्तु उपयोगी बात बोलो अन्यथा चुप रहो।

८. लोभ और ईर्ष्या न करो किन्तु दूसरों के उत्तम भाग्य पर खुशी मनाओ।

९ अपने हृदय को दुष्ट भावों से और घृणा से सर्वथा दूर रखो शत्रुओं से भी घृणा न करो किन्तु सब प्राणियों पर दया करो।

१०. अपने मन को अज्ञान से मुक्त करो और आवश्यक विषयों में सत्य जानने को उत्सुक रहो ताकि तुम संदेह या अशुद्धि का शिकार न बनो।

Gospel of Buddha by Paul Caruls. पृ० १०६

पुराने वसीयत नामे में दिये हुए आदेशों की अपेक्षा ये आदेश बहुत महत्वपूर्ण हैं, इस में कोई संदेह नहीं हो सकता। इनमें अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रह का स्पष्ट उपदेश है। धम्मपद के निम्न लिखित दो श्लोक भी इस विषय में उल्लेख योग्य हैं—

यो पाणमतिपातेति, मुसा वादं च भासति।
लोके अदिन्नं आदियति परदारं च गच्छति॥ १२॥
सुरा मेरय पानं च, यो नरो अनु युञ्जति।

इधेव मेसो लोकस्मिं, मूलं खणति अत्तनो ॥ १३ ॥

धo पo मलवग्ग।

इन श्लोकों में कहा है कि जो पुरुष दूसरे प्राणी के प्राण लेता है, जो असत्य बोलता है, जो पराये धन को लेता है, जो परस्त्री गमन वा व्यभिचार करता है और जो मद्यपान करता है वह पुरुष इसी लोक में अपनी जड़ खोदता है अर्थात अपना नाश कर डालता है।

नये वसीयत नामे में जीसस द्वारा प्रचारित कर्तव्य शास्त्र विषयक कई अत्युत्तम तत्वों का प्रतिपादन है। उनका आधार अधिक तर बौद्ध ग्रन्थों पर मालूम होता है। यहां हम ४, ५ मुख्य तत्वों को लेकर बौद्ध और ईसाई शिक्षाओं की तुलना करेंगे और फिर किसी परिणाम पर पहुंचेंगे।

१. मैथ्यू अ० ७। ३-५ जीसस की निम्नलिखित शिक्षा दी है—

Why beholdest thou the mote that is in thy brother's eye but considerest not the beam that is in thine own eye ?

Thou hypocrite, first cast out the beam of thine own eye and then shalt thou see clearly to cast out the mote out of thy brother's eye.

इन दो वाक्यों में दूसरों के दोष देखने में अपना समय

न नष्ट कर के पहले अपने दोष दूर करने चाहियें, फिर दूसरों की तरफ नजर डालनी चाहिये, यह भाव प्रकट किया गया है। इसी तत्व को प्रसिद्ध बौद्ध ग्रंथ धम्मपद में इन शब्दों में बताया गया है-

न परेसां विलोमानि न परेसां कताकतम् ।
अत्तनोऽव अवेक्खेय कतानि अकतानि च ।। ७ ।।

पुष्फ वग्ग

इस का अर्थ यह है कि दूसरों के विपरीत आचरण और किये हुये बुरे कर्मों की तरफ नहीं देखना चाहिये किन्तु अपने कामों की अच्छी तरह परीक्षा करनी चाहिए। मल वग्ग के—

सुदस्सं वज्जमञ्ञेसं अत्तनो पन दुद्दसम् ।

इत्यादि श्लोकों में भी दूसरों के दोष न देख कर बुद्धिमान् अपने ही दोषों का पहले विचार करते हैं यह बात बताई गई है।

२. मै० ७ । १२ में जीसस ने एक अत्युत्तम कर्तव्य शास्त्र विषयक तत्व का प्रतिपादन किया है जिसे स्वर्ण नियम के नाम से कहा जाता है। वह नियम निम्न शब्दों में बताया गया है—

All things whatsoever ye would that men should do to you, do ye even so to them.

अर्थात् तुम मनुष्यों से जैसा व्यवहार चाहते हो उन के

साथ वैसा ही व्यवहार करो।

धम्मपद में इसी तत्व को इस प्रकार बताया गया है—

सब्बे तस्सान्ति दण्डस्स, सब्बेसं जीवितं पिय।
अत्तानं उपमं कत्वा, न हनेय्य न घातये॥

धo पo दण्ड वग्ग

इस का अर्थ यह है कि सब पुरुष दण्ड से डरते हैं और सभी को जीवन प्रिय है इस लिये अपने समान सब को समझते हुए न प्राणियों को मारे और न मरवाए।

सुत्त निपात नालुक सुत्त में भी इसी भाव का यह श्लोक आया है—

यथा अहं तथा एते, यथा एते तथा अहं।
अत्तानं उपमां कत्वा, न हनेय्य न घातये॥

नाo सुo ॥ २७॥

अर्थात् जैसे मैं हूं वैसे ही ये सब प्राणी हैं इस प्रकार सब को अपने जैसा समझ कर न किसी को मारे न मरवाए इत्यादि।

यहां इतना कह देना आवश्यक है कि ईसाई धर्म पुस्तक में इस अहिंसा तथा आत्मौपम्यदृष्टि को संकुचित रूप में ही स्वीकार किया गया है। पशु हिंसा का उस में स्पष्ट निषेध नहीं, जैसा कि बौद्ध ग्रन्थ में दिये हुए श्लोकों में है।

महाभारत शांति पर्व २५८। १९, २१ में इसी तत्व को

बहुत ही स्पष्ट शब्दों में बताया गया है। यथा—

यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः।
न तत्परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः॥
जीवितं यः स्वयं चेच्छेत्कथं सोऽन्यं प्रघातयेत्।
यद् यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत्॥

इन श्लोकों का भाव वही है जो ऊपर दिये हुए श्लोकों का है। दूसरों से तुम जैसा व्यवहार नहीं चाहते, दूसरों के साथ भी उस तरह का व्यवहार न करो इत्यादि। वेद में इस का मूल दिखाया जा चुका है।

३. मैं० ५। ४४ में जीसस ने निम्नलिखित शिक्षा अपने शिष्यों को दी है—

'love your enemies, bless them that curse you' do good to them that hate you and pray for fhem which dispitefully use you and persecute you.'

अर्थात् अपने शत्रुओं से प्रेम करो। जो तुम्हें शाप देवें उन को आशीर्वाद दो, जो तुम से घृणा करते हैं, उनके साथ भी भलाई करो, जो तुम्हारे पर अत्याचार करते हैं, उन के लिए भी प्रार्थना करो इस शिक्षा के अत्युत्तम होने में कोई संदेह नहीं पर निम्नलिखित वाक्यों से यह स्पष्ट हो जायगा कि यह शिक्षा कोई अपूर्व नहीं।

धम्मपद कोधवग्ग में बुद्ध भगवान् ने कहा है—

१. अक्कोधेन जिने कोधं, असाधुं साधुना जिने।
जिने कदरियं दानेन, सच्चेन आलिक वादिनम्।

अर्थात् क्रोध को अक्रोध के द्वारा जीतना चाहिये, दुष्ट को साधु व्यवहार के द्वारा जीतना चाहिये, कृपण को दान के द्वारा और झूठ बोलने वाले को सत्य के द्वारा जीतना चाहिये।

ब्राह्मण वग्ग में बुद्ध भगवान् ने इसी तत्व का प्रतिपादन करते हुए कहा है—

२. अक्कोसं वधवन्धं च, अदुठ्ठो यो तितिक्खति।
खन्ति बलं बलानीकं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणम्।

अर्थात् दूसरों के दिये हुए गाली गलौच आदि को जो अदुष्ट भाव से सहन करता है, क्षमा ही जिस का बल और सैन्य है उस को मैं ब्राह्मण कहता हूं।

३. सुख वग्ग में निम्न लिखित श्लोक आया है—

सुसुखं वत जीवाम, वेरिनेसु अवेरिनो।
वेरिनेसु मनुस्सेसु विहराम अवेरिनो॥

जिस का अर्थ यह है कि शत्रुओं के साथ भी शत्रुता न करते हुए हम सब सदा सुख से जीवन व्यतीत करें।

(ध० प० सुखवग्ग)

४. धम्म पद के प्रथम ही यमकवग्ग में इसी अवैर तत्व को बताते हुए कहा है—

नहि वेरेण वेराणि, सम्मन्तीध कदाचन।
अवेरेण तु सम्मन्ति, एस धम्मो सनातनो॥

अर्थात् वैर करने से कभी वैर शान्त नहीं होता किन्तु अवैर से ही शान्त होता है यही सनातन धर्म है।

मनुस्मृति में 'क्रुध्यतं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्। अ० ३। ४८ ब्राह्मण सन्यासी के धर्म बताते हुए कहा है कि वह क्रोध करने वाले के भी प्रति क्रोध न करे, गाली देने पर वह आशीर्वाद देवे। महाभारत उद्योग पर्व अ० ७१।५६ में—

अक्रोधे न जयेत्क्रोधमसाधुं साधुना जयेत्।
जयेत्कदर्यं दानेन, जयेत्सत्येन चानृतम्।

यह श्लोक आया है जिसका धम्मपद से उल्लेख किया जा चुका है। इस तरह उत्तम होने पर भी यह शिक्षा सर्वथा नवीन नहीं यह बात साफ है। शत्रुओं के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये इस विषय में वेद का जो मत है उसका आगे इसी अध्याय में उल्लेख किया जायगा।

४. मं० ५। ६, १० में जीसस ने शिष्यों के प्रति कहा है।

'Blessed are they which do hunger and thirst after righteousness ... Blessed are they that are persecuted for righteousness' sake; for theirs is the Kingdom of heaven. अर्थात् जिन लोगों को धर्म के लिये कष्ट उठाने और अत्याचार सहन करने

पड़ते हैं वे लोग धन्य हैं।

धम्मपद पण्डित वग्ग में बुद्ध भगवान् ने पंडितों अथवा बुद्धिमानों का स्वभाव बताते हुए कहा है—

सुखेन फुठ्ठा अथवा दुखेन, न उच्चावचं पंडिता दस्सयन्ति। न अत्त हेतु न परस्स हेतु, न पुत्तमिच्छे न धनं न रठ्ठं। न इच्छे अधम्मेन समिद्धिमत्तनो, स सीलवा पञ्ञवा धम्मिको सिया॥

इन श्लोकों का अर्थ यह है कि बुद्धिमान् पुरुष वे हैं जो सुख हो वा दुःख हो सदा एक रूप रहते हैं और किसी तरह का विकार नहीं सूचित करते। जो पुरुष न अपने लिये न दूसरों के लिये या पुत्र धन अथवा राष्ट्र की प्राप्ति के लिये अधर्म करता है। जो कभी अधर्म से अपनी समृद्धि नहीं चाहता वही सदाचारी और धर्मात्मा है। तात्पर्य यह है कि सदा धर्म का ही पालन करना चाहिये कितनी भी आपत्ति क्यों न आए, कितना बड़ा प्रलोभन क्यों न सामने उपस्थित हो, पर धर्म को नहीं छोड़ना चाहिये। वेद में सदा ऋत सत्य के मार्ग पर चलने से ही कल्याण हो सकता है इस तत्व का 'सुगः पंथा अनृत्तर आदित्यास ऋतं यते। नात्रावखादो अस्ति वः।' इत्यादि मंत्रों द्वारा स्पष्ट प्रतिपादन किया है। किस प्रकार देव अर्थात् ज्ञानी लोग सदा सत्य के ही व्रत का पालन करते हैं यह बात 'ऋतावान ऋतजाता ऋतावृधो घोरासो अनृत-

द्विषः।' इत्यादि मंत्रों की व्याख्या करके अनेक स्थानों पर दिखाई जा चुकी है, अतः फिर उन मन्त्रों का उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं। ऊपर के मन्त्र में देवों को अनृतद्विषः अर्थात् un-righteousness का घोर द्वेषी बताया है यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। इस विषय में महाभारत के—

'न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
स्वर्गारोहण पर्व अ० ५। ६३

इत्यादि वचन भी स्मरण करने योग्य हैं जिन में काम भय लोभ के वश में होकर और यहां तक कि अपने जीवन तक की रक्षा के लिये भी धर्म को नहीं छोड़ना चाहिये यह साफ शब्दों में बताया गया है।

५. मै० अ० २३ में जीसस ने उस समय के याजक पुरोहित लोगों को धमकाते हुए कहा है—

'Woe unto you, Scribes and Pharisees, hypocrites for ye make cleanse the outside of the cup but within they are full from extorrion and excess.'

अर्थात् तुम्हें धिक्कार है ऐ दम्भी लोगो! तुम प्याले के बाहर खूब मौज लेते हो पर उसका अन्दर का भाग मैल से भरा रहता है। इस प्रकार के वाक्यों में बाह्य शुद्धि की अपेक्षा आंतरिक शुद्धि बहुत आवश्यक है इस बात को सूचित किया

गया है। धम्म पद में भगवान् गौतम बुद्ध ने भी सर्वत्र बाह्य चिन्हों और आडम्बरों को तुच्छ बताते हुए अन्दरूनी शुद्धि पर जोर दिया है। उदाहरणार्थ ब्राह्मण वग्ग श्लोक १२ में कहा है—

किं ते जटाहि दुम्मेध, किं ते अजिन साटिया।
अब्भन्तरं ते गहनं, बाहिरं परिमज्जसि ॥

अर्थात् 'ऐ मूर्ख ! जटाओं और चर्म वस्त्रादि से तेरा क्या बनेगा ? तेरे अन्दर तो बड़ा मैल भरा हुआ है बाहर से तू शुद्ध दिखाई देता है।' भाव में समानता स्पष्ट है।

दण्ड वग्ग श्लो० १३–१४ में इसी आंतरिक शुद्धि के भाव को प्रधानता देते हुए बुद्ध भगवान् ने कहा है कि नग्न चर्या, जटा, उपवास, गज्ञवेदि में शयन इत्यादि उस पुरुष को शुद्ध नहीं कर सकते जिस ने तृष्णा का परित्याग नहीं किया। इस के विपरीत जो पुरुष ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ शान्त दान्त सब भूतों पर दया दृष्टि रखता हुआ वस्त्रादि से सुशोभित हो कर भी विचरण करता है वही ब्राह्मण श्रमण और भिक्षु है। वेद के अन्दर—'भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम्,' 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु,' 'आगन्महि मनसा सं शिवेन मागन्महि मनसा दैव्येन' इत्यादि मंत्रों द्वारा साफ शब्दों में मन की पवित्रता पर ही अधिक जोर दिया गया है। अच्छे वस्त्रादि धारण करने का वेद में न केवल कहीं निषेध

नहीं किया गया बल्कि 'युवा सुवासा: परिवीत आगात् स उ उ श्रेयान् भवति जायमान: ।' इत्यादि द्वारा अच्छे वस्त्र धारण करने को भी एक आवश्यक कर्तव्य बताया गया है।

६. मै० ६ । १६ के अनुसार जीसस ने शिष्यों को उपदेश करते हुए कहा है—

'Lay not up for yourselves treasures upon earth.'

अर्थात् अपने लिये तुम कोई भौतिक खजाना न रखो। अ०, १० । ६ में—

'Provide neither gold nor silver nor brass in your purses.'

इस में भी उसी बात को फिर दुहराया है। एक दूसरे स्थान पर उस ने यहां तक कहा है कि एक धनी पुरुष के स्वर्ग या ईश्वर राज्य में जाने की अपेक्षा ऊंट का सुई की नोक में से निकलना सुगम है।

भगवान् गौतम बुद्ध ने भी धम्म पद में अनेक स्थानों पर इसी बात का उल्लेख किया है यथा ब्राह्मण वग्ग में कहा है—

अकिंचनं अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणम् ।

अर्थात् जिस के पास कुछ धन नहीं और—

यस्य पुरे च पच्छा च, मज्झे च नत्थि किंचनं ।
अकिंचनं अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणम् ।।

अर्थात् जिस के पास पूर्व पश्चिम और मध्य में कुछ भी धन नहीं है तिस पर भी जो दूसरों से धन नहीं लेता उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं। इस प्रकार इन दोनों भावों की समानता है। अन्य भी निष्काम भावादि अनेक विषयों में बौद्ध और ईसाई धर्म ग्रन्थों की शिक्षाओं की समानता दिखाई जा सकती है पर निबन्ध विस्तार के भय से इस समानता के विषय को हम नहीं समाप्त करते हैं। अब बौद्ध धर्म के कर्तव्य शास्त्र विषयक तत्वों की वैदिक कर्तव्य शास्त्र के साथ तुलना करेंगे जिस से इन दोनों का सम्बन्ध निश्चय करने में कुछ सहायता मिल सकेगी।

बौद्ध कर्तव्य शास्त्र की मूलभूत दो बातों का निर्देश करना यहां आवश्यक है (१) चार आर्य सत्य (२) आर्य अष्टांग मार्ग। धम्म पद बुद्ध वग्ग में इन का इस प्रकार निर्देश किया गया है—

> चत्तारि अरिय सच्चानि सम्मञ्ञा य पस्सति ॥
> दुःखं दुःखसमुत्पादं दुक्खस्य च अतिक्कमं।
> अरियं चऽठ्ठङ्गिकं मग्गं दुक्खूपसमगामिनं ॥
> एतं खो सरणं खेमं, एतं सरणमुत्तममं।
> एतं सरणमागम्म सब्ब दुक्खा प्रमुच्चति ॥

इन श्लोकों में बताये हुए ४ आर्यसत्य निम्न हैं—

१. संसार में दुःख है।

२ दुःख का मूल कारण तृष्णा है।

३. तृष्णा के नाश से ही दुःख का निरोध हो सकता है।

४. दुःख के नाश के लिये अष्टाङ्ग मार्ग बौद्ध ग्रन्थों में निम्न प्रकार बताया है—

१. सम्मा दिट्ठि=(सम्यग् दृष्टि) ठीक दृष्टि वा ज्ञान।

२. सम्मा संकल्प=(सम्यक् संकल्प) शुद्ध संकल्प।

३. सम्मा वाचा=शुद्ध वाणी।

४. सम्मा कम्मन्त=शुभ कर्म।

५. सम्मा आजीव=शुद्ध आजीविका।

६. सम्मा व्यायाम=शुद्ध व्यायाम वा परिश्रम।

७. सम्मा सति=शुद्ध विचार।

८. सम्मा समाधि=शुद्ध ध्यान वा मन की शान्त स्थिति।

बुद्ध भगवान् ने इन सत्यों को आर्य सत्य और इस मार्ग को आर्य अष्टाङ्ग मार्ग का नाम दिया है। पंडित वग्ग श्लो० ४ में कहा है—

अरियप्पवेदिते धम्मे सदा रमति पंडितः।

अर्थात् पंडित सदा 'आर्य प्रवेदित' अथवा आर्यों द्वारा बताये हुए धर्म में रमण करता है। मग्ग वग्ग श्लो० ६ में कहा है कि—

वाचानुरक्खीमनसा सुसंवुतो कायेन च अकुसलं न कयिर।
एते तयो कम्मपथे विसोधये आराधये मग्ग मिसिप्पवेदितं॥

इसका अर्थ यह है कि वाणी मन शरीर किसी से कोई पाप न करे और सदा 'ऋषियों द्वारा बताये हुए मार्ग' पर चलता रहे। इस का संस्कृत रूप 'आराधयेन्मार्गमृषिप्रवेदितं' है जिस का अर्थ यह है कि ऋषि प्रोक्त मार्ग पर चले। इस से यह बात स्पष्ट है कि यह अष्टांग मार्ग जिसका यहां उपदेश किया गया है कोई नवीन नहीं किन्तु वैदिक साहित्य से ही लिया हुआ है। तुलनात्मक विचार करने पर हमें स्पष्ट ज्ञात होता है कि कर्तव्य शास्त्र विषयक गौतम बुद्ध की शिक्षाओं का आधार प्रायः पतञ्जलि मुनि के योग दर्शन पर है। पांच यमों के अनुसार बुद्ध की आज्ञाओं का निर्देश किया जा चुका है। चार आर्य सत्यों का मूल भी योग दर्शन के—

'परिणाम-ताप-संस्कार-दुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः, प्रकृति पुरुषयोः संयोगो हेयहेतुः, संयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्हानम्' इत्यादि सूत्रों में स्पष्ट पाया जाता है। व्यास मुनि ने अपने भाष्य में 'एवमिदमपि योग-शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव तद् यथा हेयं, हेयहेतुः, हानं, हानोपायः' यह कह कर बिल्कुल स्पष्ट आर्य सत्यों का प्रतिपादन किया है। सम्यग्दर्शनादि के विषय में भी व्यास मुनि का लेख योगभाष्य में देखने योग्य है 'एवमनादि दुःखस्रोतसा व्युह्यमानमात्मानं भूतग्रामं च दृष्ट्वा योगी सर्वदुःखक्षयकारिणं 'सम्यग् दर्शनं' शरणं प्रतिपद्यते ॥ (साधन पाद सू० १५ का व्यास

भाष्य) यहां सम्यग्दर्शन का सर्व दुःख नाश का कारण बताया है। इसी को बुद्ध ने सम्मादिट्ठि का नाम दिया। योग दर्शन के ही आधार पर गौतम बुद्ध ने इन आर्य सत्यों और अष्टाङ्ग मार्गादि का उपदेश किया, इस के लिए अन्य भी अनेक प्रमाण पेश किये जा सकते हैं, उदाहरणार्थ दण्ड वग्ग में दुःख से छूटने का उपाय बताते हुए भगवान् बुद्ध ने कहा है—

सद्धाय सीलेन च विरियेन च, समाधिना धम्मविनिच्छयेन च। संपन्न विज्जाचरणा परिस्सुता, पहस्सथ दुक्खमिदं अनप्पकम्। १६।

इस का तात्पर्य यह है कि तुम श्रद्धा शील, वीर्य, समाधि, धर्म निश्चय और विद्या के द्वारा दुःख का परित्याग कर सकोगे। योग दर्शन १। १२० के 'श्रद्धा वीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञा पूर्वक इतरेषाम्' इत्यादि साधन पाद के सूत्रों के साथ इस की अद्भुत समानता है। इसी प्रकार बुद्ध वग्ग में लिखा है—

अपि दिब्बेसु कामेसु, रतिं सो नाधिगच्छति।
तण्हक्खय रतो होति, संमासं बुद्ध सावको॥ ६॥

इस में बुद्धोपासक तृष्णा-क्षय में निरंतर तत्पर रहता है और दिव्य कामों में भी वह रति को नहीं प्राप्त होता।

व्यास भाष्य में प्राचीन किसी ग्रन्थ से यह श्लोक उद्धृत किया गया है—(साधन पाद सू० ४२ का भाष्य)

यच्च कामसुखं लोके, यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

अर्थात् जो कुछ भी दिव्य बड़ा भारी सुख है वह तृष्णाक्षय से जो सुख प्राप्त होता है उस का १६ वां भाग भी नहीं है। इसी तरह योगदर्शन के 'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्' इस सूत्र में बताई हुई भावनाओं के अनुसार धम्म-पदादि बौद्ध ग्रन्थों में ब्रह्मविहार के नाम से मेत्ता विहारा, करुणा, मुदिता, उपेक्खा इन चार भावनाओं का उपदेश पाया जाता है। भिक्खु वग्ग में 'मेत्ता विहारी यो भिक्खु प्रसन्नो बुद्ध सासने' इत्यादि शब्द आये हैं। इन सब उदाहरणों से यह बात स्पष्ट ज्ञात होती है कि बौद्ध कर्तव्य शास्त्र का आधार अधिकतर आर्ष साहित्य पर ही था। मरते समय तक बुद्ध भगवान ने शिष्यों को स्पष्ट कहा कि मैं किसी नवीन धर्म का प्रचार नहीं कर रहा किन्तु प्राचीन धर्म के तत्वों को ही लोगों के सामने रख रहा हूं। ब्राह्मण धाम्मिक सुत्त आदि में इस बात को बहुत ही स्पष्ट कर दिया है इस लिए यह मानना असङ्गत न होगा कि सीधे रूप में चाहे न हो पर बुद्ध की शिक्षाओं का आधार वैदिक

कर्तव्य शास्त्र पर अवश्य था। वैदिक कर्तव्य शास्त्र के अन्दर जिस कर्म नियम का प्रतिपादन है उस को बौद्ध ग्रन्थों में कितने जोरदार शब्दों में बताया है। पाप वग्ग में बुद्ध भगवान् ने उपदेश किया है—

न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे न पव्वतानं विवरं पविस्स।
न विज्जतीसो जगतिप्पदेसो यत्थठ्ठितो मुंचेय पाप कम्मा॥

अर्थात् अन्तरिक्ष में समुद्र के मध्य में, पर्वतों की गुफाओं में, सारे संसार में कोई भी ऐसा प्रदेश नहीं है जहां बैठ कर पापी अपने पाप के परिणाम से बच जाए। इस के साथ वेद के—

'यस्तिष्ठति चरति, उत यो द्यामतिसर्पात्' इत्यादि की तुलना करनी चाहिये। अष्टांग मार्ग का आधार भी वेद में स्पष्ट पाया जा सकता है। सम्यग्दर्शन के विषय में 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय' यह ऋ० १०। ९० इत्यादि में आया हुआ वेद मंत्र उद्धृत किया जा सकता है जिस में यथार्थ ज्ञान को मोक्ष के लिए आवश्यक बताया गया है। सम्मा संकल्प का आधार 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' इत्यादि वेद मन्त्रों पर हो सकता है! सम्मा वाचा के लिए 'अन्यो अन्यं वल्गु वदन्त एत' (अथर्व ३। ३०।४) वाचं जुष्टां मधुमतीमवादिषं, देवानां देवहूतिषु (अ० ५। ७।

४) इत्यादि वेद मन्त्रों को देखना चाहिये जिन में मीठे उत्तम वचन बोलने का स्पष्ट कथन है।

सम्मा कम्मन्त के लिए 'परियाग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज (यजु ४ । २८) 'आनो भद्राः क्रतवो यंतु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः' इत्यादि मन्त्रों पर विचार करना चाहिये जहां दुष्ट आचरणों का परित्याग कर के उत्तम कर्म करने का निश्चय प्रकट किया गया है। शुद्ध आजीविका के ऋग्वेद के 'शुद्धो रयिं निधारय, शुद्धो ममद्धि सोम्यः' इत्यादि मन्त्रों को स्मरण करना चाहिए जिन में स्पष्ट ही शुद्ध हो कर तुम धन को धारण करो और शुद्ध और सौम्य गुण युक्त होकर भोग करो यह आदेश है। शुद्ध ध्यान और विचार के विषय में फिर से वेद मंत्र उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं क्यों कि दूसरे परिच्छेद में पर्याप्त वेद मंत्रों का इसके बारे से उल्लेख किया जा चुका है। सामाजिक कर्तव्यों के विषय में भगवान् गौतम बुद्ध के विचार भी वैदिक कर्तव्य शास्त्र के साथ ही बहुत कुछ समानता रखने वाले हैं। वैदिक वर्ण व्यवस्था का समर्थन करते हुए बुद्ध भगवान् ने ब्राह्मण वग्ग में बनाया है—

"न जटा हि न गोत्तेन न जच्चा होति ब्राह्मणो।
यम्हि सच्चं च धम्मो च सो सुची सो च ब्राह्मणो॥"

२६ । ११

अर्थात् जटाए धारण गोत्र अथवा जाति से कोई ब्राह्मण नहीं होता । जिस में सत्य और धर्म हैं वही पवित्र है, वही ब्राह्मण है।

अकक्कसं विञ्ञापनिं, गिरं सच्चं उदीरये ।

याय नाभिसजे किञ्चिं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणम् ॥ २६ । २६

जो कोमल, शिक्षादायक सच्ची बात को बोलता है और किसी कार्य वा वस्तु में आसक्त नहीं होता उसी को मैं ब्राह्मण कहता हूं ।

श्लोक २१ में कहा है जो गम्भीर बुद्धि वाला मेधावी, मार्ग और अमार्ग जानने वाला और उत्तम अवस्था को प्राप्त हुआ हुआ है उसी को मैं ब्राह्मण कहता हूं। श्लोक ६ 'यस्स कायेन वाचाय, मनसा नत्थि दुक्तं। संव्रतं तीहि ठखेहि तमहं ब्रयि ब्राह्मणं ।।' में कहा है, काय वचन और मन से जिस के अन्दर किसी तरह का पाप नहीं तीनों को जिस ने संवृत्त अर्थात् गुप्त-सुरक्षित कर के रखा हुआ है उसी को मैं ब्राह्मण कहता हूं। सुत्तनिपात ६५० में कहा है—

न जच्चा ब्राह्मणो होति, न जच्चा होति अब्राह्मणो ।

कम्मणा ब्राह्मणो होति, कम्णा होति अब्राह्मणो ॥

६५५ श्लोक में कहा है—

तपेन ब्रह्मचरियेण, संयमेन दमेन च ।

एतेन ब्राह्मणो होति एतं ब्राह्मण मत्तमम ॥

अर्थात् जन्म से कोई ब्राह्मण या अब्राह्मण नहीं होता किन्तु कर्म से ही अब्राह्मण होता है। तप ब्रह्मचर्य संयम दम इन के द्वारा पुरुष ब्राह्मण बनता है ऐसा ब्राह्मण ही उत्तम है। तृतीय परिच्छेद में वेद के अनुसार ब्राह्मणों के जो लक्षण और कर्म बताये गये हैं उन के साथ इन वाक्यों की तुलना करने पर बड़ी समानता दिखाई देती है। वेदों के अन्दर शारीरिक वाचिक और मानसिक पवित्रता को संपादन करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य बताया गया है। इस बात को सप्रमाण द्वितीय परिच्छेद में दिखाया जा चुका है इसी बात को भगवान् गौतम बुद्ध ने क्रोधवर्ग में—

काय दुच्चरितं हित्वा कायेन सुचरितं चरे ॥ ११ ॥
वचो दुच्चरितं हित्वा, वाचाय सुचरितं चरे॥ १२ ॥
मनो दुच्चरितं हित्वा, मनसा सुचरितं चरे । १३ ॥

अत्यंत स्पष्ट शब्दों में बताया है। शरीर वाणी मन से सब प्रकार की अपवित्रता दूर कर के सदा उत्तम योग्य व्यवहार करना चाहिये ऐसा इन श्लोकों तात्पर्य है।

जीवन का उद्देश्य यह कर्तव्य-शास्त्र का अत्यावश्यक प्रश्न है जिस के सम्बन्ध में वैदिक भाव का प्रथम परिच्छेद में निर्देश किया जा चुका है। बौद्ध कर्तव्य शास्त्र के अनुसार निर्वाण प्राप्ति जीवन का उद्देश्य है। कईयों का विचार है कि बौद्ध मत के अनुसार शून्य रूप हो जाना ही निर्वाण है पर

वास्तव में यह बात सत्य नहीं मालूम देती। निर्वाण का मुख्य तात्पर्य दुःख के नाश से अवश्य है पर उस में पूर्णानंद की प्राप्ति का भाव भी अवश्य मिला हुआ है। सुख वग्ग के आठवें श्लोक में बुद्ध भगवान् ने कहा है—

आरोग्य परमा लाभा, सन्तुट्ठि परमं धनं।
विस्साम परमा ञ्याति, निब्बाणं परमं सुखं॥

इस का अर्थ यह है कि स्वास्थ्य की प्राप्ति बड़ा भारी लाभ है, सन्तोष बड़ा भारी धन है, विश्वास ही बड़ा भारी संबन्धी है और निर्वाण परम सुख है। इसी वर्ग के सातवें श्लोक में भी 'निब्बाणं परमं सुखं' ये शब्द आये हैं। अप्प-माद वग्ग में निर्वाण के विषय में कहा है—

ते झायिनो सातातिका निच्चं दलह परक्कमा।
फुसन्ति धीरा निब्बाणं योगक्खेमं अनुत्तरम्॥ ३॥

इस श्लोक में निरन्तर ध्यान करने वाले धीर पुरुष निर्वाण की ओर जाते हैं जो निर्वाण अनुत्तर योगक्षेम है अर्थात् जिस से श्रेष्ठ सुख और कोई नहीं है ऐसा बताया है। इस प्रकार के श्लोकों से यह बात स्पष्ट है कि बौद्ध कर्तव्य शास्त्रों में उपदिष्ट निर्वाण शून्य रूप अवस्था नही बल्कि अलौकिक स्थिर सुख की कल्पना है अतः इस विषय में भी वैदिक और बौद्ध शास्त्रों का समान ही अभिप्राय है।

दान के विषय में वैदिक उपदेशों के समान ही 'न वे कदरिया देवलोकं वजंति, बाला ह वे न ष्पसंसन्ति दानं' इत्यादि उपदेश धम्म पद लोक वग्ग आदि में पाये जाते हैं जिन में स्पष्ट कहा है कि कृपण लोग देव लोक में कभी नहीं जाते अर्थात् सद्गति नहीं प्राप्त करते और मूर्ख दान की प्रशंसा नहीं करते किन्तु धीर पुरुष दान करते हुए परलोक में सुखी होते हैं इत्यादि। इन सब समानताओं को देखते हुए हम इस परिणाम पर पहुंचे बिना नहीं रह सकते कि बौद्ध कर्तव्य शास्त्र का भी वैदिक कर्तव्य शास्त्र के साथ सीधा या दूर का संबन्ध अवश्य है। बुद्ध की जीवनियों में वेदाध्ययन का साफ़ उल्लेख पाया जाता है। उदाहरणार्थ ललित विस्तार में लिखा है—'स ब्रह्मचारी ग्रह गेहवासी, तत्कार्यकारी विहितान्न भोजी। सायं प्रभातं च हुताशसेवी, व्रतेन वेदांश्च समध्यगीष्ट॥' इस लिये कोई आश्चर्य नहीं कि इन में से कई बातें उस ने सीधी वेद के आधार पर कही हों और कुछ अन्य पातञ्जल योगदर्शनादि के आधार पर बताई हों। कम से कम गौतम बुद्ध ने इस बात का तो कभी दावा नहीं किया कि वह जिन अहिंसादि तत्वों का प्रतिपादन करना था, वे प्राचीन आर्यों को ज्ञात न थे। ब्राह्मण धार्मिक सूत्र में बुद्ध ने स्पष्ट बताया है कि बहुत प्राचीन समय ये हिंसात्मक यज्ञ न किये जाते थे, उस समय याज्ञिक लोग

धान्य से ही होम करते थे, पीछे से ब्राह्मणों ने अधिक दक्षिणा के लोभ से यज्ञों में पशुहिंसा चलाई इत्यादि।

पर एक बड़ा भारी प्रश्न हमारे सामने यहां पर उपस्थित होता है। कहा जाता है कि बौद्ध कर्तव्यशास्त्र में परमात्मा के लिये कोई स्थान नहीं, बुद्ध भगवान् ने स्पष्ट ही ईश्वर की सत्ता तक से इनकार कर दिया ऐसी अवस्था में ईसाई मत का बौद्धमत से और बौद्धमत का वैदिक धर्म से किसी तरह का सम्बन्ध माना ही कैसे जा सकता है। स्वयं बिल्कुल निष्पक्षपात रीति से पाली भाषा में लिखे हुए प्राचीन सभी बौद्ध ग्रन्थों का पूर्ण अध्ययन किये बिना इस विषय में निश्चयात्मक उत्तर देना मेरे लिये कठिन है किन्तु निम्न लिखित प्रमाणों से मुझे स्पष्ट प्रतीत होता है कि भगवान् गौतम बुद्ध ईश्वर की सत्ता से बिल्कुल इन्कार करने वाले न थे; यद्यपि ईश्वरादि विषयक जटिल प्रश्नों पर बहुत विचार करना वे अनावश्यक और अनुपयोगी मानते थे। धर्म के क्रियात्मक भाग और चरित्र शुद्धि को ही वे प्रधान और अन्य सब बातों को वे गौण मानते थे इस में कोई संदेह नहीं हो सकता।

बौद्ध कर्तव्य शास्त्र के सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध होने के कारण इस परिच्छेद में प्रायः धम्म-पद से ही उद्धरण दिये गये हैं अतः इस विषय है भी हमें फिर एक बार धम्मपद पर दृष्टि

डालनी चाहिये ।

१. धम्मपद में ईश्वर की सत्ता का कहीं खण्डन नहीं किया गया यह बात निर्विवाद है अब अत्तवग्ग का चतुर्थ श्लोक देखिये जो इस प्रकार है—

अत्ता हि अत्तनों नाथो को हि नाथो परोसिया ।
अत्तना हि सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं ॥

अर्थात् आत्मा का नाथ आत्मा ही है। आत्मा को संयम में कर के दुर्लभ नाथ की प्राप्ति होती है। इस श्लोक में दुर्लभ नाथ को आत्मा के द्वारा प्राप्त किया जाता है ऐसा लिखा है। क्या इस का यही अभिप्राय नहीं निकलता कि आत्मसंयम के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति होती है औरवह आत्मा (परमात्मा) ही इस जीवात्मा का नाथ है। मैं समझता हूं यही श्लोक का सीधा अर्थ है जिस में कोई खैंचातानी नहीं मालूम होती ।

२. धम्मपद नाग वग्ग का १३ वां श्लोक इस प्रकार है।

सुखा मत्तेयता लोके, अथो पेत्तेयता सुखा ।
सुखा सामञ्ञता लोके, अथो ब्रह्मञ्ञता सुखा ॥

इस श्लोक के पहले तीन चरणों में माता पिता का संमान करना और श्रमणों का सत्कार करना सुख दायक है यह बताते हुए अन्तिम चरण में कहा है कि 'अथो ब्रह्मज्ञता सुखा' अर्थात् ब्रह्म को जानना यह बड़ा भारी सुख का कारण है। मेरे विचार में इसका यही सीधा अर्थ है। श्री राहुल सांकृत्यायन ने धम्म-

पद के छायानुवाद में अन्तिम चरण का अर्थ 'अथ ब्राह्मणता सुखा' किया है और हिन्दी अनुवाद में ब्राह्मणपन (निर्लोप होना) लिखा है तथापि ब्राह्मण पद में स्वयं ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर के ज्ञान का भाव स्पष्ट है। इस से बुद्ध भगवान् ईश्वर की सत्ता से सर्वथा इंकार न करते थे बल्कि उस में विश्वास करते थे यह बात स्पष्ट सूचित होती है। जरा वग्ग में 'अचरित्वा ब्रह्मचरियं, अलद्धा यौवने धनम्' इत्यादि श्लोकों में ब्रह्मचर्य शब्द आया है जिसका मुख्य शब्दार्थ वेद का अध्ययन अथवा ब्रह्म की प्राप्ति के लिये यत्न यह है उस से भी कुछ न कुछ इस ऊपर कहे हुए भाव की पुष्टि होती है। अब अन्य ग्रन्थों के वाक्यों को लेंगे।

३. दीर्घ निकाय संवाद १३ (तेविज्जसुत्त) में कथा आती है कि एक बार वसिष्ठ, भरद्वाज नामक दो ब्राह्मण ब्रह्म के विषय में वाद-विवाद करते हुए निर्णय के लिये बुद्ध भगवान् के पास आये। दोनों का अभिप्राय सुन लेने पर बुद्ध ने कहा कि क्या उन दोनों में से किसी ने ईश्वर को देखा है, उत्तर नहीं में मिला। तब गौतम बुद्ध ने पूछा कि क्या किसी वेदज्ञाता पंडित ने ब्रह्म का साक्षात्कार किया है, फिर 'नहीं' में उत्तर मिला, तब प्रश्न करते करते बुद्ध ने कहा कि ब्रह्म के अन्दर ईर्ष्या द्वेष क्रोध मत्सरादि नहीं, वेद जानने वाले पंडितों के अन्दर भी जब ये सब बातें हैं वे किस तरह ब्रह्म दर्शन कर

सकते हैं। तब उन दोनों ब्राह्मणों ने कहा कि हमने सुना है तथागत (गौतम बुद्ध) ब्रह्म के साथ मिलने के मार्ग को जानता है तो कृपया हमें वह मार्ग दिखाइये। इस पर गौतम बुद्ध ने जो उत्तर दिया वह विशेष ध्यान देने योग्य है उसका अंग्रेजी अनुवाद—Sacred Books of The East Series Vol. XI. में इस प्रकार पाया जाता है—

That man born and brought up at Manasakta (name of the village) might hesitate or faiter when asken they way there to. But not so does the Tathagat (Buddha) hesitate when asked of the Kingdom of God, for, I know both GOD AND THE KINGDOM OF GOD and the path that goes there to; I know it even as one who hath entered the Kingdom and been born there.

ये वाक्य यहां Buddhist and Christion Gospels by Edmunds M. A. Voll. P. 89 से उद्धृत किये गये हैं। यह सारी कथा पालकेरस की सुप्रसिद्ध पुस्तक Gospel of Buddha के पृ० ११७–१२२ में पाई जाती है। ऊपर दिया हुआ अनुवाद दोनों में लगभग समान है। इन वाक्यों का अर्थ यह है कि जो पुरुष मनसा कृत नामक ग्राम में पैदा हुआ और वहां पाला गया है वह भी चाहे उस ग्राम के

रास्तों के बारे में पूरे निश्चय से कभी न कह सके (यद्यपि वैसी संभावना नहीं) पर तथागत (बुद्ध) से जब परमेश्वर के साम्राज्य के विषय में प्रश्न किया जाता है तो वह भूल नहीं कर सकता। क्योंकि मैं परमेश्वर उस के साम्राज्य और उस की प्राप्ति के मार्ग को वैसे ही जानता हूं जैसे कि एक उसी साम्राज्य के अंदर पैदा और प्रविष्ट हुआ हुआ पुरुष जानता है अर्थात् मुझे इस विषय में कोई संदेह नहीं हो सकता।

इस कथा में दो ब्राह्मणों का ब्रह्म विषयक वाद-विवाद में निर्णय के लिये बुद्ध के पास जाना, हम ने सुना है कि गौतम बुद्ध ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग को जानता है यह कहना, तथा बुद्ध का निश्चयात्मक कथन, ये सब इस बात के अत्यन्त प्रबल प्रमाण हैं कि गौतम बुद्ध नास्तिक न थे। ईर्ष्या द्वेष क्रोधादि के कारण बड़े बड़े वेद ज्ञानी भी ब्रह्म को देख नहीं सकते। अतः उन्हीं दुर्गुणों को दूर करने और चरित्र शुद्ध करने की बड़ी भारी जरूरत है यह उन का मुख्य तात्पर्य था, न कि ब्रह्म की सत्ता से इन्कार करना। इस प्रकार के केवल दार्शनिक प्रश्नों को वे यतः अनुपयोगी समझ कर उन्हें सुलझाने का विशेष यत्न न करते थे, इस लिये उन के अनुयायियों में धीरे धीरे नास्तिकता के भावों का प्रचार हो गया ऐसा मालूम होता है।

४. प्रसिद्ध विद्वान् राइस डेविड ने ब्रह्मजाल सुत्त नामक प्राचीन बौद्ध ग्रन्थ का अंग्रेजी में अनुवाद किया है उस में Dialogues Vol. I. P. ३२ के निम्न वाक्य देखने योग्य हैं। (Sacred Book of the Buddhist Oxford University Press Edited by Maxmullar P. 32).

He (The Enlightened) says to himself 'That illustrious Brahma, the Great Brahma, the Supreme one, the Mighty, the All Seeing, the Ruler, the Lord of all, the Maker, the Creator, the chief of all, the Father of all that are to be, He by whom we were created, He is steadfast, immutable, eternal, of a nature that knows no change. But we who were created by him have come hither as being inpermanent mutable limited in duration of life,

Buddhat teachings translated in Lord Chalness P. 140.

ये उद्धरण यहां The Buddhist and Christian Gospel by Edmonds Vol. II. P. 142 से लिये गये हैं। इन वाक्यों के अन्दर ब्रह्म को स्पष्ट सब से बड़ा सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सब का स्वामी, कर्ता, अधिष्ठाता और सब का पिता बताया गया है और साथ ही यह कहा है कि वह

सर्वोत्पादक स्थिर, नित्य और अपरिणामी तथा एक रस है। जब तक यह न सिद्ध हो जाए कि यह भाषान्तर अशुद्ध है तब तक यही मानना सर्वथा योग्य मालूम होता है कि भगवान् गौतम बुद्ध तथा उनके प्रारम्भिक अनुयायी ईश्वर की सत्ता में अवश्य विश्वास करते थे। कई स्थानों पर जहां बुद्ध ने ईश्वर का खण्डन किया है, वह ईश्वर की सत्ता मात्र का नहीं बल्कि उसे उपादान कारण मानने वा पुरुष के समान मानने की कल्पना का है, ऐसा हमें प्रतीत होता है।

५. दीर्घ निकाय संवाद १६ में बुद्ध ने उपदेश दिया है कि जो ध्यानाभ्यास करता है वही परमात्म-दर्शन कर सकता है और अंगुत्तर निकाय ४। १६० के ईश्वर प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है इस प्रश्न के उत्तर में बुद्ध ने दया करुणा न्यायादि का उपदेश दिया है। पाली में 'ब्रह्म पात्तो होती' अर्थात् 'ब्रह्म प्राप्तो भवति,' ये शब्द वहां आये हैं जिन से स्पष्ट सिद्ध होता है कि गौतम बुद्ध को ईश्वर की सत्ता स्वीकृत थी, यद्यपि पुरुषाकार शरीरधारी ईश्वर वा Personal God को वे न मानते थे।

६. इन प्रमाणों के अतिरिक्त एक उल्लेख योग्य घटना इस सम्बन्ध में यह है कि सन् १९१२ के दिसम्बर मास के शिकागो से निकलने वाले Open Court Magazine नामक मासिक अखबार में एक डा० सजीनानन्द स्वामी एम. ए.

नामक बौद्ध भिक्षु ने तिब्बत के कई स्थानों में प्रचलित सन्ध्या को अर्थ सहित प्रकाशित कराया था। इस सन्ध्या में 'अग्ने नय सुपथा राये अस्मान, हिरण्मयेन पात्रेण,' इत्यादि वेद मंत्रों के अतिरिक्त 'शं नो देवीरभिष्टये, वाक् वाक्, प्राणः प्राण, उद्वयं तमसस्परि' से 'तच्चक्षुर्देवहितं' तक उपस्थान मंत्र, गायत्री, 'नमः शंभवाय च' इत्यादि वैदिक सन्ध्या के मनसा परिक्रमा को छोड़ कर प्रायः सब मंत्र पाये जाते हैं। उन के अर्थ भी जैसे डाक्टर महोदय ने वहां दिये थे सब ईश्वर परक हैं Open Court Magazine का अङ्क मैंने स्वयं देखा है। जब तक पुष्ट प्रमाणों से यह न सिद्ध हो जाए कि यह सब डा०मजीदानन्द स्वामी की अपनी मनघड़न्त कल्पना है तब तक यह साक्षी भी बड़ी प्रबल है। १९२० ई० के सितम्बर मास में जब शांति-निकेतन (बोलपुर) जाने का अवसर प्राप्त हुआ था तो मैंने वहां के एक उपाध्याय बौद्ध भिक्षु से इस विषय की सत्यता के बारे में पूछा था, तब उन्होंने बताया कि सब बौद्ध तो नहीं पर नागार्जुनादि ब्राह्मण धर्म से बौद्ध मत स्वीकार करने वाले कई पंडितों के चेलों में अब तक उस प्रकार की मन्त्र सन्ध्या का प्रचार जरूर चला आता है। इस लिये इस साक्षी को भी यों ही नहीं टाला जा सकता। महात्मा गौतम बुद्ध की निम्न उक्ति सुत्तनिपात श्लो० ५६१ में पाई जाती है जो विशेष उल्लेखनीय है—

ब्रह्मभूतो अतितुलो मार सेनापमद्दतो।
सब्बामित्ते वशीकृत्वा मोदामि अकुतोभयो॥

इन सब प्रमाणों से मुझे यह विश्वास होता है कि बुद्ध भगवान् और इनके प्रारंभिक अनुयायी ईश्वर की सत्ता से इन्कार करने वाले न थे। इस में संदेह नहीं कि जिस प्रकार वैदिक कर्तव्य शास्त्र का आधार ही अधिकतर ईश्वर विश्वास इत्यादि पर है वैसे बौद्ध कर्तव्य शास्त्र का नहीं। प्रायः बौद्ध ग्रन्थों में कर्म स्वयं ही फल देने वाले हैं ऐसा माना गया है जो विशेष युक्ति युक्त कथन नहीं मालूम देता। कर्तव्य शास्त्र विषयक उत्तम शिक्षाओं के होने पर भी बौद्ध धर्म में जो ईश्वर विश्वास भक्ति इत्यादि को विशेष स्थान नहीं दिया गया वह उस की बड़ी भारी निर्बलता को सूचित करता है क्यों कि यदि कर्म फल दाता कोई सर्व शक्तिमान् ईश्वर नहीं है तो हम अच्छे कार्य करें क्यों इस का कोई संतोष-जनक उत्तर नहीं दिया जा सकता। इस प्रसंग को यहां समाप्त करते हुए अब हम अहिंसा के तत्व विषय में वैदिक कर्तव्य शास्त्र की अन्यों के साथ थोड़ी तुलना करेंगे।

मैथ्यू० ५। ३९ के अनुसार जीसस ने अपने शिष्यों को उपदेश किया है कि—

Resist not evil, but whosoever sball smite

thee on thy right cheek, turn to him the other also.

अर्थात् बुराई का प्रतिरोध न करो किंतु यदि कोई तुम्हारी दाहिनी गाल पर चपेट यगाये तो बाईं गाल भी इसके सामने कर दो। बौद्ध ग्रन्थों में भी कई स्थान पर इसी तरह के उपदेश पाए जाते हैं। उदाहरणार्थ मज्झिम निकाय संवाद २१ में बुद्ध ने कहा कि यदि तुम्हारे गालों पर कोई चपेट लगाये तो भी तुम क्रोध में बुरे शब्द न कहो किन्तु उस के प्रति भी करुणा दृष्टि जारी रखो।

वेदों के अन्दर यह अहिंसा का तत्व कितने स्पष्ट शब्दों में पाया जाता है यह प्रथम परिच्छेद में सप्रमाण दिखाया जा चुका है। द्वेष भाव को दूर कर के प्रेम भाव की वृद्धि करने का सदा प्रयत्न करना चाहिये यह वेद के उन मन्त्रों में बार बार उपदेश किया गया है। प्रश्न यह है कि संसार में सब प्राणी धर्मात्मा नहीं, सब अहिंसा व्रत के पालक नहीं, ऐसी अवस्था में सब जगह सत्याग्रह से ही क्या काम चल सकता है? इस का उत्तर 'हां' में देना कठिन है। अपने सामने एक पतिव्रता देवी का अपमान होते हुए अथवा किसी दुष्ट को पतिव्रता सती के धर्म को बलात्कार से भ्रष्ट करने की चेष्टा करते हुए देख कर भी क्या हम चुपचाप बैठे रहें? इस प्रकार करना पाप न होगा? इस पर कहा जा सकता है

कि दुष्ट पर हाथ चलाने की अपेक्षा देवी के पातिव्रत धर्म को बचाने के लिए अपना शरीर तक देने के लिए उद्यत रहना अधिक अच्छा है। इस बात को मान भी लिया जाय तो विदेशी शत्रु हमारे देश पर आक्रमण करें क्या उस समय भी हम केवल भगवान् के भरोसे बैठे रहें, वेद इस बात की आज्ञा नहीं देता। उस के अनुसार अच्छे प्रयोजन की सिद्धि के लिये आवश्यकता पड़ने पर शस्त्र पकड़ना क्षत्रियों का धर्म ही जीसस तथा बुद्ध ने जो निष्प्रतिरोध वा non resistance का उपदेश किया है वह ब्राह्मणों और संन्यासियों के लिए तो ठीक है, पर यदि सब उसी का पालन करने लगें तो उस का परिणाम समाज के लिए घातक होगा। उस अवस्था में दुष्टों का दबदबा जम जायगा, अतः वेद में जहां ब्राह्मणों के लिये यह कहा है कि वे 'तितिक्षन्ते अभिशस्तिं जनानाम्' अर्थात् मनुष्यों द्वारा ज्ञान वा अज्ञान से की हुई (अभिशस्ति) हिंसा को अपमानादि को (तितिक्षन्ते) वे सहन करते हैं, वहां क्षत्रियों के लिए शत्रु नाश के लिये शक्ति भर कार्य करने का स्पष्ट उपदेश है। क्षत्रियों के कर्तव्य का वर्णन करते हुए जो 'वृजेनेन वृजिनन् संपिपेष मायाभिर्दस्यूंरभि भूत्योजाः॥ अ० २०। ११। ६ इत्यादि मन्त्र उद्धृत कर चुके हैं उन में इन्द्र अर्थात् शूरवीर सेनापति अपने बल से पापियों को चूर चूर करता और अपनी चतुरता से दस्युओं पर विजय प्राप्त करता है, यह भाव अनेक वार सूचित किया गया है। 'उद्वृह रक्षः सहमूलमिन्द्र वृश्चा मध्यं

प्रत्यग्रं शृणीहि' इत्यादि में जो राक्षसों के नाश का इन्द्र अर्थात् शूरवीर सेनापति को उपदेश किया गया है, वह भी इसी लिये है कि वेद की दृष्टि में शस्त्र पकड़ना कोई पाप नहीं। नीच पुरुषों का नाश करना यह क्षत्रियों का परम धर्म है। इतना अवश्य है न्याययुक्त कार्य हो और जब यह देख लिया जा चुका हो कि शांति स्थापना के लिए अन्य सब उपायों का अवलम्बन करने पर भी असफलता हुई है और युद्ध अनिवार्य है। महाभारत युद्ध के समय श्रीकृष्ण ने मामले को शांत करने के लिए अपनी ओर से पूरी कोशिश की और जब दुर्योधन ने 'सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव' अर्थात् मैं युद्ध के बिना एक सूई की नोक जितनी भूमि भी न दूंगा, ऐसे कह डाला तभी श्रीकृष्ण ने पांडवों को युद्ध द्वारा अपने जन्मसिद्ध अधिकार को सुरक्षित करने का उपदेश किया। यही वैदिक भाव है। इस दृष्टि से जब तक वेद का अध्ययन न किया जाय तब तक उस का भाव अच्छी प्रकार समझ में नहीं आ सकता। एक बात और इस विषय में उल्लेख के योग्य है। क्षत्रियों को आवश्यकता पड़ने पर अवश्य युद्ध करना चाहिए, यह वेद में बार बार कहा है। पर युद्धादि कर्तव्य जान कर करते हुए भी उन्हें मन के अंदर द्वेष का भाव यथासम्भव नहीं आने देना चाहिये, यह भाव भी वेद में अनेक स्थानों पर सूचित किया गया है। उदाहरणार्थ अ० १६। १४। १ में विजय के अनन्तर विजयी

राजा हारे हुए पुरुष को सम्बोधन करते हुए कहता है, 'असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु न वै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु' अर्थात् मेरे लिए सब दिशायें शत्रु रहित हों। तेरे साथ भी हम द्वेष नहीं करते। सब ओर से हमें निर्भयता प्राप्त होवे। जिस प्रकार एक न्यायाधीश वा जज किसी अपराधी को कैद वगैरह का दण्ड देते हुए भी उस व्यक्ति के लिये किसी तरह का द्वेष नहीं रखता वैसे ही क्षत्रियों को दुष्ट दमन रूप धर्म पालन करते हुये और शस्त्रादि ग्रहण करते हुये भी द्वेष का भाव न रखना चाहिये। यह वैदिक भाव यहां स्पष्ट शब्दों में सूचित किया गया है जो अत्यन्त महत्व-पूर्ण है। वास्तव में देखा जाय तो यही सबसे अधिक क्रियात्मक और श्रेष्ठ शिक्षा है. इस में कोई सन्देह नहीं हो सकता। इस तरह से वैदिक कर्तव्य शास्त्र की ईसाई और बौद्ध कर्तव्य-शास्त्रों के साथ तुलना करते हुए और यह दिखाते हुये कि इन की सब उच्च शिक्षाओं का मूल वेद में पाया जाता है. इस परिच्छेद को समाप्त किया जाता है।

इस विषय में अधिक विस्तार से जो जानना चाहते हैं उन्हें लेखक की 'बौद्ध-मत और वैदिक-धर्म' आर्य समाज, दीवान हाल, देहली द्वारा प्रकाशित, मूल्य १।) पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिये जिस में इन विषयों पर सप्रमाण विस्तृत तुलनात्मक अनुशीलन किया गया है।

पञ्चम परिच्छेद

वैदिक सिद्धांत की उच्चता

वैदिक कर्तव्य-शास्त्र की सर्वोच्चता का कारण

इस समय तक वैदिक कर्तव्य-शास्त्र के मूल सिद्धांतों की व्याख्या करते हुए वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्यों का वेद के अनुसार दिग्दर्शन कराया जा चुका है। चतुर्थ परिच्छेद में वैदिक कर्तव्य-शास्त्र की अन्य मतों के कर्तव्य-शास्त्रों से तुलना कर के दिखाई गई है। इस वैदिक कर्तव्य-शास्त्र की विशेषता क्या है, क्यों इसे ही सर्वोच्च मानते हैं, इस विषय पर थोड़ा सा प्रकाश डालना जरूरी मालूम देता है। वैदिक-धर्म की बड़ी भारी विशेषता जिस की ओर अनेक बार ध्यान आकर्षित किया जा चुका है वह यह है कि मनुष्य मात्र के शारीरिक, मानसिक, आत्मिक उन्नति के सब मुख्य तत्व इस के अन्दर स्पष्ट रूप से पाये जाते हैं। अन्य किसी भी मत के ग्रन्थों में इतनी स्पष्टता और उत्तमता से इस सम-विकाश का प्रतिपादन नहीं किया गया। प्रथम परिच्छेद में इस समविकास के सम्बन्ध में अनेक प्रमाण उद्धृत किये जा चुके हैं इस लिए फिर उन्हें न दुहराते हुए समविकाश के साथ मिलते जुलते एक दूसरे तत्व की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं जिसे मध्य मार्ग के नाम से कहा जा सकता

है। संसार में प्रायः देखने में आता है कि मनुष्य मध्य मार्ग का अवलम्बन न कर के किसी न किसी पराकाष्ठा पर तुल जाते हैं। उदाहरणार्थ कई पुरुष ऐसे हैं जो केवल अपनी ही वैयक्तिक उन्नति से सन्तुष्ट रहते हैं और सामाजिक उन्नति की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं देते। समाज सेवा करना भी प्रत्येक का आवश्यक कर्तव्य है इस तत्व को वे नहीं स्वीकार करते। दूसरे कई ऐसे पुरुष हैं जो पर्याप्त तौर पर अपनी शारीरिक, मानसिक, आत्मिक शक्तियों के विकास करने का प्रयत्न न कर के केवल दूसरों की उन्नति के विचार में ही तत्पर रहते हैं वास्तव में देखा जाए तो ये दोनों ही आवश्यक हैं। दोनों में से कोई एक पर्याप्त नहीं। यजुर्वेद के ४० वें अध्याय में सम्भूति पदों से सामाजिक और वैयक्तिक भाव का वर्णन करते हुए यह कहा है कि—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः॥

यजु० ४० । ८

अर्थात् जो केवल वैयक्तिक भाव के अन्दर मग्न रहते हैं वे अंधकार को जाते हैं इस में कोई संदेह नहीं किन्तु जो अपनी उन्नति की ओर बिल्कुल ध्यान न दे कर दूसरों की ही उन्नति की चिन्ता करते हैं अर्थात् समाज के लिए जितनी योग्यता की आवश्यकता है उस को प्राप्त करने तक का यत्न

नहीं करते वे उस से भी घने अंधकार में जाते हैं। ज्ञान कर्म के विषय में भी वैसा ही विवाद प्रचलित है। कई सांख्य मार्गी केवल ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त होता है ज्ञान प्राप्त कर लेने पर कर्म सब छोड़ देने चाहियें, ऐसा बोलते हैं। मीमांसक लोग केवल यज्ञ-यागादि करने मात्र से ही स्वर्ग मोक्षादि की प्राप्ति होती है ऐसा कहते हैं। वेद के अंदर दोनों को मिलाने से ही वस्तुतः सद्गति होती है और सच्चा मनुष्य का कल्याण होता है ऐसा विद्या अविद्या के नाम से क्रमशः ज्ञान और कर्म का ग्रहण करते हुए बताया गया है। वेद में जहां ज्ञान की महिमा में—

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।
(ऋ० १०। ६०। १५)

ऐसा कहा है कि ब्रह्मज्ञान से ही पुरुष मृत्यु के पार जाता है अन्य मोक्ष प्राप्त करने वा दुःख सागर से पार होने का कोई उपाय नहीं है वहां कर्म की महिमा में—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
(यजु० ४०। १)

इत्यादि अनेक मन्त्र आये हैं जिन में प्रत्येक पुरुष शुभ कर्मों को करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे इस बात को स्पष्ट शब्दों में कहा है। इसी कर्म के विषय में ऋ० ६। ३६। ३ में यह प्रार्थना आई है।

स नो ज्योतींषि पूर्व्य पवमान विरोचय।
क्रत्वे दक्षाय नो हिनु ॥

अर्थात् हे (पूर्व्य पवमान) पूर्वज, पवित्र करने वाले विद्वान् ! (स नः ज्योतींषि विरोचय) तू हमारे लिए ज्योति को हृदय में जगा दे और (नः) हमें (क्रत्वे दक्षाय) कर्म और बल के लिए (हिनु) प्रेरणा कर। ऋ० ६। ४। ३ में इसी प्रकार—

सना दक्षमुत क्रतुमुप सोममृघो जहि।

यह प्रार्थना है जिस में पूर्वोक्त कर्मण्यता, बलवृद्धि और हिंसा को दूर करने का भाव सूचित किया गया है। ज्ञान कर्म दोनों को मिलाने से ही सच्ची उन्नति हो सकती है यह—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह।

इत्यादि वेद-मन्त्र का अभिप्राय है यद्यपि कई मान्य विचारकों ने यहां विद्या अविद्या पद से आध्यात्मिक और प्राकृतिक ज्ञान का ग्रहण किया है। इसी तरह भोग त्याग का वेद के अन्दर जितना सुन्दर मेल किया गया है उतना अन्य किसी भी ग्रन्थ में न होगा।

तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनं।
(यजु० ४०। १)

इन शब्दों के अन्दर बड़ा भारी तत्व है। जगत् का त्याग पूर्वक भोग करो, लोभ मत करो यह धन प्रजापति परमेश्वर

का ही है ऐसा सदा विचार करो यह सीधा अर्थ है। संसार के अन्दर प्रचलित मुख्य मुख्य मतों में से नवीन वेदान्त, बौद्ध, ईसाई मत आदि ने जगत् को दोष और बन्धन रूप मान कर केवल त्याग को ही दुःख से छूटने का एक मात्र साधन बताया है। दूसरी ओर चार्वाकादि ने 'यावज्जीवेत्सुखं जीवेद्दणं कृत्वा घृतं पिबेत्।' कह कर खाओ पीओ मौज उडाओ इस भोगमय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

वास्तव में गम्भीर विचार करने पर मध्य मार्ग का अवलम्बन ही सब से श्रेष्ठ है जिस मध्यमार्ग का वेद में 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः' इन शब्दों द्वारा निर्देश किया गया है यह बात स्पष्ट हो जाती है। वेद में केवल अपने पेट भरने के लिये धन का उपभोग करने वाले को पाप का उपभोग करने वाला बताया है इस बात का सप्रमाण पहले उल्लेख किया जा चुका है। श्रद्धा तर्क दोनों विरुद्धाभास वस्तुओं को भी वेद में मिला कर उपयोग करने का—

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।

अ० १०।२२।

इत्यादि द्वारा स्पष्ट उपदेश किया गया है। स्थितप्रज्ञ योगी पुरुष अपने मस्तिष्क और हृदय को सी कर कार्य करता है ऐसा मंत्र का शब्दार्थ है। काव्य की भाषा में श्रद्धा तर्क को मिला कर कार्य करने का इस से बढ़ कर उत्तम शब्दों में

उपदेश मिलना अत्यन्त कठिन है। इस तरह वैदिक कर्तव्य शास्त्र की बड़ी भारी विशेषता सम-विकास के साथ साथ मध्य मार्ग का उपदेश है जिस का अन्य मतों के कर्तव्य शास्त्रों में प्रायः अभाव सा पाया जाता है।

वैदिक कर्तव्यशास्त्र की सर्वोच्चता का दूसरा कारण इसके उपदेशों की ओजस्विता है। ईसाई मत के समान अन्य कई संप्रदायों का भी यह विश्वास है कि मनुष्य स्वभाव से पापी और पतित है। पौराणिक भाई सन्ध्या के समय 'पापोऽहं पापकर्माहं पापात्मा पापसंभवः' इत्यादि कहने में अपना गौरव समझते हैं, पर वेद का आशय उस प्रकार का नहीं है। वेद के अन्दर सब मनुष्यों को सर्व शक्तिमान् अमृत स्वरूप परमेश्वर का पुत्र मानते हुए जीवात्मा में सब पापों और काम क्रोधादि आत्मिक शक्ति को कम करने वाले शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने की शक्ति विद्यमान है इस भाव को बार बार सूचित किया गया है। इस विषयक प्रमाणों का प्रथम परिच्छेद में उल्लेख किया जा चुका है। सामाजिक जीवन में भी पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्ति ही सदा ध्येय होना चाहिये, यह वैदिक कर्तव्य-शास्त्र का एक मुख्य सिद्धान्त है पापों से सर्वथा मुक्त कोई साधारण पुरुष नहीं, कोई भी ऐसा नहीं जिस के अन्दर किसी तरह की निर्बलता न हो यह बात ठीक है, तो भी अपने को बार बार पापी और निर्बल कहने से सिवाय अपनी शक्ति को दिन प्रति

दिन अधिक क्षीण करने के और क्या लाभ हो सकता है, इस लिये वेद पाप की तरफ जाने की प्रवृत्ति और निर्बलता को रोकने के लिये उस से विरुद्ध प्रबल भावना को धारण करने का उपदेश करता है।

'अदीनाः स्याम शरदः शतम्' (यजु० ३६ । २४)

सौ वर्षों तक हम दीनता के भाव से रहित हो कर प्रभावशाली जीवन बनाते हुए कार्य करें यह भाव वेदों में अनेक जगह पाया जाता है। वेद के मन्तव्यानुसार मनुष्य का शरीर ऋषियों का एक पवित्र आश्रम है (सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे) यह शरीर देवताओं का एक पवित्र मन्दिर है (सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते) क्यों कि सूर्य चन्द्र वायु जल इत्यादि हमारे शरीर में आंख मन प्राण वीर्यादि के रूप में विद्यमान हैं। सर्व शक्तिमान् प्रभु के पास रहने का हमारे आत्मा को जन्मसिद्ध अधिकार मिला हुआ है। वेद स्पष्ट शब्दों में 'सखा नो असि परमा च बन्धुः' 'युज्यो मे सप्त पदः सखासि' (अथर्व ५ । ११) 'इंद्रस्य युज्य सखा' (ऋ० १ । २२ । १९) 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (ऋ० १ । १६४) इत्यादि मन्त्रों द्वारा जीव और परमेश्वर को मित्र बताता है।

मित्रता लगभग समान बल वालों में ही हो सकती है इस लिये यह स्पष्ट है कि जीवात्मा के अन्दर भी गुप्तरूप से बड़ी दिव्य अद्भुत शक्ति विद्यमान है, ऐसी अवस्था में अपने को

हीन दीन दुर्बल पतित मानना कितना अनुचित और हानिकारक है। आत्म-विश्वास तथा ईश्वर-भक्ति आदि के द्वारा हम आत्मा के अन्दर गुप्त रूप से विद्यमान शक्तियों का विकास करके सब पापों से छूट सकते हैं फिर हम अपने को बार बार पापी पापी कह कर क्यों अपनी शक्ति का नाश करें यह वैदिक कर्तव्य शास्त्र का तात्पर्य है। मनुष्य को अपने को दासता के सब बन्धनों से मुक्त करना चाहिये, चाहे वे बन्धन आरम्भ में कितने ही उत्तम सुखदायी मालूम देवें, इस बात को 'उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय। अ० ७। ८३। ३ तथा—

प्रास्मत्पाशान् वरुण मुञ्च सर्वान् य उत्तमा अधमा वारुणा ये।
दुष्वप्न्यं दुरितं नि ष्वास्मदथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम्॥
अथर्व ७। ८३। ४

इत्यादि मन्त्रों में स्पष्ट किया गया है जिन में उत्तम मध्यम नीच अर्थात् सात्विक राजस और तामस सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त करने की प्रार्थना की गई है, साथ ही यहां यह कहा है कि दुष्ट स्वप्न तथा सब के दुर्व्यवहार को तुम हम से दूर कर दो, जिस से हम उत्तम लोक में जाएं अर्थात् सद्गति प्राप्त करें। इन मन्त्रों के साथ ही 'अश्मन्वतीरीयते संरभध्वम्' इत्यादि ऋग्वेद और यजुर्वेद में पाये जाने वाले मन्त्र का फिर से यहां स्मरण करना चाहिये जिसमें संसार को एक पथरीली

नदी से उपमा देते हुए यह उपदेश किया है कि परस्पर सहायता करते हुए और बुरी बातों के त्याग पूर्वक अच्छे गुणों का ग्रहण करते हुए तुम सब इस संसार नदी के पार चले जाओ। ये उपदेश कितने ओजस्वी हैं और किस प्रकार एक मुर्दे दिल के अन्दर भी नया जीवन फूंकने की शक्ति इन में पाई जाती है इस बात को विद्वान् अपने अनुभव से जान सकते हैं। यहां यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि वेद में महत्वाकांक्षा को कोई बुरा नहीं माना गया। स्थान स्थान पर सर्वोत्कृष्ट होने और यश वर्चस् इत्यादि से सम्पन्न होने की प्रार्थनाएं पाई जाती हैं। इस विषय में निम्न लिखित दो तीन मन्त्र विशेष विचारने योग्य हैं—

१. यशो मा द्यावापृथिवी यशो मेन्द्रबृहस्पती।
यशो भगस्य विन्दतु यशो मे प्रति मुच्यताम्।
यशस्व्य स्याः ससदोऽहं प्रवदिता स्याम्॥

साम ० ६। १२। १०

अर्थात् द्युलोक और पृथिवी मुझे यश देवें। इन्द्र (शूरवीर राजादि) और ज्ञानी गुरु मुझे यश दें। ऐश्वर्य का यश मुझे प्राप्त हो। यश की ऊपर वृष्टि हो जाए, मैं यशस्वी हो कर इस परिषद् के अन्दर (प्रवदिता स्याम) सब से उत्तम भाषण करने वाला हो जाऊं। इस तरह की भावना और महत्वाकांक्षा प्रत्येक राष्ट्रीय सेवक को धारण करनी चाहिये।

२. यशसं मेन्द्रो मघवान् कृणोतु यशसं द्यावा-
पृथिवी उभे इमे। यशसं मा देवः सविता
कृणोतु प्रियो दातुर्दक्षिणाया इह स्याम्॥'

अ० ६। ५८। १

इस मन्त्र में भी ऐश्वर्यशाली पुरुष, द्युलोक पृथिवी लोक, सर्वोत्पादक परमेश्वर ये सब मुझे यशस्वी बनाएं और मैं दानियों का प्रेम पात्र बनूं यह प्रार्थना की गई है।

३. यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत।
यशा विश्वस्य भूतास्यऽहमस्मि यशस्तमः॥

अ० ६। ३९। ३

अर्थात् जिस प्रकार सूर्य अग्नि चन्द्र इत्यादि देव अथवा राजा ज्ञानी नेता सौम्यगुण युक्त पुरुष यशस्वी हैं उसी प्रकार मैं भी सब प्राणियों के बीच में सब से बढ़ कर यशस्वी होऊं। वर्च वा तेज के लिये—

येन हस्ती वर्चसा सं बभूव येन राजा मनुष्येष्व-
प्स्वन्तः। येन देवा देवतामग्र आयन् ते न मामद्य
वर्चसाग्ने वर्चस्विनं कृणु॥ अथर्व ३। २२। ३

इत्यादि मंत्र देखने योग्य हैं। इन मंत्रों के देखने से यह बात स्पष्ट प्रकट होती है कि वैदिक कर्तव्य शास्त्र में महत्वाकांक्षा को बड़ा ऊंचा स्थान दिया गया है। निष्काम भाव का उपदेश वेद में—

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।

(यजु० ४० । २) तथा 'अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः' इत्यादि मन्त्रों द्वारा अवश्य किया गया है किन्तु उस पर मालूम होता है बहुत अधिक बल नहीं दिया गया । इस समय तक मुझे निष्काम भाव के सूचक ये दो तीन निर्देश मिले हैं कारण यह होगा कि सर्वथा निष्काम भाव को क्रियात्मक जीवन के अन्दर लाना अत्यंत कठिन है। साधारण पुरुषों के आगे जब तक कोई सीधा प्रेरक भाव न न रहे वे शुभ कर्मों के अनुष्ठान में भी तत्पर नहीं होते, इस लिए वेद में आदर्श के तौर पर निष्काम भाव का निर्देश करते हुए भी उस पर बहुत अधिक जोर नहीं दिया गया। मनु महाराज ने अपने धर्मशास्त्र में—

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित ।
यद् यद्धि कुरुते किंचित् तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥
कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता ।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥

ये श्लोक कहे हैं इन पर भी यहां मनन करने की आवश्यकता है । इन श्लोकों में बताया गया है कि सर्वथा निष्काम होना सम्भव ही नहीं है वेदाध्ययन तथा वेदोक्त कर्मयोग करने की कामना अवश्य होनी ही चाहिये । ऊपर यश वर्च इत्यादि विषयक प्रार्थनाएं दी चुकी हैं, धन के विषय में 'वयं स्याम

पतयो रयीणाम्' इत्यादि असंख्य प्रार्थनाएं वेद में पाई जाती पर इस बात को कभी नहीं भुलाना चाहिये कि वेद में सत्य यश श्री इन तीनों को उत्कृष्ट मानते हुए सत्य को ही सर्वत्र मुख्य स्थान दिया गया है।

'सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयताम्'

यह जो वाक्य अत्यंत प्रसिद्ध है यह वेद मन्त्र नहीं तो भी उस का आधार यजुर्वेद के निम्न लिखित मन्त्र पर है—

मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीय।
पशूनां रूपमन्नस्य रसो यशः श्रीः श्रयतां मयि स्वाहा ॥
यजु० ३९ । ४

इस मन्त्र का अर्थ यह है कि (मनसः) मन की (कामम्) कामना और (आकूतिं) शुभ संकल्प को (अशीय) प्राप्त करूं अर्थात् मेरे मनोरथ पूर्ण हों (वाचः सत्यम् अशीय) वाणी की सत्यता का भोग करूं—सदा वाणी से सत्य बोलूं (पशूनां रूपम् अन्नस्य रसः) पशुओं का उत्तम रूप और अन्न का अच्छा रस (यशः) यश (श्रीः) ऐश्वर्य (मयि श्रयताम्) मेरे आश्रय से रहें। इन तीनों सत्य, यश, श्री की प्राप्ति के लिये (स्वाहा) मैं स्वार्थ त्याग करता हूं। पशुओं के रूप अन्न के रस को श्री के अन्दर ही सम्मिलित किया जा सकता है। इस प्रकार जहां सत्य को प्रधानता दी जाती

है और पुरुष राजा हरिश्चन्द्र, महाराज रामचन्द्र, ऋषि दयानन्द आदि महानुभावों की तरह सत्य की रक्षा के लिए यश और ऐश्वर्य का त्याग करने को सदा उद्यत रहता है, वहां यश और ऐश्वर्य के कारण किसी तरह की हानि की सम्भावना नहीं हो सकती।

इस तरह निष्पक्षपात दृष्टि से विचार करने पर हमें साफ मालूम होता है कि वैदिक कर्तव्य शास्त्र ही समविकाश-रूपी उन्नति के सच्चे मार्ग की ओर ले जाने वाला, मध्य-मार्ग का सर्वत्र प्रतिपादन करने वाला और अत्यन्त ओजस्वी स्फूर्ति दायक (Inspiring) उपदेशों के कारण मनुष्य के लिये सब से अधिक उपयोगी है। भोग त्याग, ज्ञान कर्म, श्रद्धा तर्क इत्यादि का जितना सुन्दर मेल इस के अन्दर पाया जाता है उतना कहीं नहीं पाया जाता। दूसरे मतों के कर्तव्य-शास्त्रों में जिन उच्च शिक्षाओं का प्रतिपादन किया गया है प्रायः उन सब का मूल वेद के अन्दर पाया जाता है और प्रत्यक्ष वा अ-प्रत्यक्ष रीति से वैदिक कर्तव्य शास्त्र के साथ उनका सम्बंध है। इतनी स्वतन्त्र विवेचना करने के पीछे अब इस विषयक यूरोपीयन विद्वानों के मत की थोड़ी सी आलोचना करना आवश्यक मालूम होता है। सब विद्वानों का इस विषय में एक ही मत नहीं है वे भी बहुत से विकासवाद वा Evolution theory को मानने वाले पाश्चात्य विद्वान् कल्पना करते

हैं कि वेद सब से प्राचीन ग्रन्थ हैं जो प्रारम्भिक जंगली सभ्यता का अधिकतर निर्देश करने वाले हैं। ऋग्वेद अधिकतर अग्नि वायु सूर्य इन्द्र आदि देवताओं की स्तुति से भरा पड़ा है। यजुर्वेद के अन्दर फिजूल यज्ञ-यागादि की चर्चा है, साम वेद प्रायः सोम नामक मद्य की महिमा का वर्णन करने वाला है और अथर्ववेद जादू टोने की बातों से भरा पड़ा है। इन वेदों के अन्दर कर्तव्य शास्त्र के विषय में कोई उल्लेख योग्य उत्तम उपदेश नहीं पाये जाते इत्यादि। इस समय तक हमने वैदिक कर्तव्य-शास्त्र के मूल सिद्धांतों की व्याख्या करते हुए जो अत्यन्त ओजस्वी जीवनोपयोगी तत्व बतलाये हैं वे स्वयं इस यूरोपियन बिचार की असत्यता को सिद्ध करने वाले हैं। इस लिए हमें इस विचार की आलोचना में कुछ अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं मालूम देती। यदि जगत् के अन्दर कार्य करने वाले अटल नियमों का ज्ञान, अपने समान सब प्राणियों को देखने का उच्च भाव, सब प्रकार के पापों को दूर करने का निश्चय, शारीरिक मानसिक और आत्मिक शक्तियों का समविकास, व्यक्ति और समाज का अटूट सम्बन्ध, बाह्य और आंतरिक स्वराज्य प्राप्ति का भाव, सत्य की रक्षा के लिए सर्वस्व तक त्याग करने का उच्च भाव, निर्भयता की पूर्ण रूप से प्राप्ति, देश सेवा में अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को लगाने का भाव—ये सब उच्च भाव जंगली लोगों के अन्दर पाये जा सकते हैं, यदि बिल्कुल क्रियात्मक श्रेष्ठ मध्यमार्ग का उपदेश जंगली अर्धसभ्य लोगों के बताए हुए ग्रन्थों में पाया जा सकता है तो निःसन्देह वेद उन जंगलियों

के बनाये ग्रन्थ हैं और उन के अन्दर जिन उच्च भावों का प्रकाश किया गया है वे कोई महत्वपूर्ण भाव नहीं हैं। पर कोई भी पक्षपात रहित पुरुष इस बात से इन्कार नहीं कर सकता कि ये सब तत्व अत्यन्त उच्च हैं और अन्य मत के किसी भी कर्तव्य शास्त्र में इन तत्वों का इतनी उत्तमता से प्रतिपादन नहीं किया गया इस लिए वेद फिजूल बातों से भरा हुआ है, जीवनोपयोगी आचार विषयक उपदेश उसके अन्दर नहीं है यह मानना केवल अपने पक्षपात और दुराग्रह को प्रकट करने के सिवाय और कुछ नहीं कहा जा सकता।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है सब यूरोपियन विद्वानों का वैदिक कर्तव्य शास्त्र के विषय में एक ही अभिप्राय नहीं है, उन में से भी कई ऐसे हैं जिन्होंने निष्पक्षपात हो कर वैदिक कर्तव्य-शास्त्र को समझने का यत्न किया है और इस विषय में वे ठीक पहले विचारों के उल्टे परिणाम पर पहुँचे हैं। उदाहरणार्थ डार्विन के साथ ही प्राकृतिक जगत् में विकासवाद के आविष्कारक डा० रसेल वैलेस अपने ग्रन्थ 'Social Environment and moral progress' में इस प्रकार लिखते हैं—

'In the earliest records which have come down to us from the past we find ample indication that general ethical conceptions, the accepted standard of morality and the conduct resulting from these were in no degree inferior to those which prevail today though

in some respects they differed from ours. The wonderful collection of hymns known as the Vedas is a vast system of religious teachings, pure and lofty as those of the finest portion of the Hebrew Scriptures.' (page 11)

अर्थात् पुराने समय के जो लेख हमें इस समय मिलते हैं उन में भी हमें इस बात के पर्याप्त निर्देश प्राप्त होते हैं कि उस समय के सदाचारादि विषयक विचार और व्यवहार हमारे से किसी रूप में भी कम श्रेणी के नहीं थे, यद्यपि कई अंशों में वे भिन्न अवश्य थे। वेद के नाम से प्रसिद्ध संहिता के अन्दर बाइबल के अच्छे से अच्छे भाग के तुल्य पवित्र और ऊंची धार्मिक शिक्षाओं की एक पद्धति पाई जाती है। इस बात के समर्थक में डा० वैलेस ने अपने ग्रन्थ में कुछ सूक्तों का भाषान्तर भी उद्धृत किया है।

रेवरेण्ड फिलिप नामक एक दूसरे यूरोपियन विद्वान् के मत का उल्लेख करना भी यहां अनुचित न होगा। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'The teachings of the Vedas' के उपसंहार में वे लिखते हैं—

'The conclusion therefote is invitable that the development of religious thought in India has been uniformly downward and not on ward. We are justified therefore in concluding that the higher and purer conceptions of

the Vedic Aryans were the results of a primitive Divine Revelation.' (The Teachings of the Vedas, P. 231).

इन वाक्यों का भाव यह है कि हम यह परिणाम निकालने को बाधित हैं कि भारत में धार्मिक विचारमाला में क्रमशः अवनति हुई है उन्नति नहीं। इस लिये इस परिणाम पर पहुंचना सर्वथा हमें उचित मालूम देता है कि वैदिक आर्यों के उच्च और अधिक पवित्र विचार एक प्रारम्भिक ईश्वरीय ज्ञान के परिणाम थे। अन्य भी अनेक निष्पक्षपात विद्वानों के इस अभिप्राय के समर्थक मत दिये जा सकते हैं पर विस्तार के भय से ऐसा करने की आवश्यकता नहीं। वास्तविक बात यह है कि वैदिक कर्तव्य-शास्त्र को निष्पक्ष दृष्टि से विचार करने का बहुत थोड़े यूरोपियन विद्वानों ने कष्ट उठाया है।

इस विषय में Sacred Books of the East series के Russian Edition के सम्पादक म० बौलङ्गर (Mr. Boulanger) का लेख उल्लेख करने योग्य है जिस में उन्होंने प्रसिद्ध यूरोपीय विद्वान प्रो० मैक्समूलर के अटकल पच्चू अनुवाद (स्वयं Vedic Hymns में प्रो० मैक्समूलर ने स्वीकार किया है कि 'My translation (of the Veda) is conjectural.' अर्थात् मेरा अनुवाद अटकल पच्चू वा अनुमान पर आश्रित है) की कड़ी समालोचना करते हुए कहा है—

What struck me in Max Mullar's translation was a lot of absurdities. obscene passages and a lot of what is not lucid. As far as I can grasp the teaching of the Vedas, it is so sublime that I would look upon it as a crime on my part if the Russian Public become acquainted with it through the medium of a confused and distorted translation, thus not deriving for its soul that benifit which this teaching should give to the people.'

अर्थात् प्रो० मैक्समूलर के (और यही बात प्रायः सब यूरोपीय भाष्यकारों के विषय में कही जा सकती है) अनुवाद में जिस बात से मुझे अत्यन्त हैरानी हुई वह यह है कि उस में बहुत सी बेहूदी अश्लील और अस्पष्ट बातें हैं। जहां तक मैं वेदों की शिक्षा को समझ सकता हूं मुझे वह इतनी अधिक ऊंची मालूम होती है कि रशियन जनता के एक गड़बड़ और भद्दे अनुवाद के द्वारा उस से परिचय कराने को मैं बड़ा भारी अपराध (जुर्म) मानता हूं क्यों कि इस से वह, उस आत्मिक लाभ से वञ्चित रह जाएगी जो वैदिक शिक्षा जनता को देती है।

४. थोरियो नामक अमेरिका के सुप्रसिद्ध विद्वान् ने वेदों के विषय में निम्न उद्गार प्रकट किये—

'What extracts from the Vedas I have read fall on me like the light of a higher and purer luminary which describes a loftier course through a purer startum–free from particulars, *Simple, Universal; the Vedas contain a sensible account of God.*'

(Quoted from 'Mother America' by Swami Omkar. P. IX).

भावार्थ—मैं ने वेदों के जो उद्धरण पढ़े हैं वे मुझ पर एक उच्च और पवित्र ज्योतिः पुञ्ज के प्रकाश की तरह पड़ते हैं जो एक उत्कृष्ट मार्ग का वर्णन करता है। वेदों के उपदेश सरल, देश व जाति विशेष के इतिहास से रहित और सार्व-हैं तथा उन में ईश्वर विषयक युक्तियुक्त विचार दिये गये हैं।

डा० जेम्स कज़िन्स नामक आयर्लैंड के सुप्रसिद्ध कवि और दार्शनिक ने अपने 'Path to Peace' अथवा 'शान्ति का मार्ग' नामक पुस्तक में वैदिक आदर्श की उच्चता का कुछ विस्तार से वर्णन करते हुए अन्त में लिखा कि—

'On that (Vedic) ideal alone, with its inclusiveness which absorbs and annihilates the causes of antogonisms, its sympathy which wins hatred away from itself, is it possible to

rear a new earth in the image and likeness of the Eternal heawens.'

(Path to Peace P. 70)

भावार्थ—उस वैदिक आदर्श का अनुसरण करते हुए ही जो सार्वभौम होने के कारण विरोध के कारणों को विनष्ट करता करता है, जो सहानुभूति द्वारा घृणा को दूर कर के जीत लेता है यह संभव है कि पृथिवी को फिर से स्वर्ग के समान सुखदायक बनाया जा सके। इस से बढ़ कर वैदिक कर्तव्य शास्त्र की उच्चता का क्या प्रतिपादन हो सकता है ? डा० जेम्स कज़िन्स इन वैदिक आदर्शों से इतने प्रभावित हुए हैं कि उन्होंने अपना नाम भी 'जयराम' रख लिया है तथा वे वेदादि शास्त्रों के अनुशीलन में तत्पर हैं।

६. ल्यौन देल्बौस (Leon Delbos) नामक फ्रांस के विद्वान् ने १४ जुलाई सन् १९८४ में पेरिस में International Literary Association के सन्मुख एक निबन्ध पढ़ते हुए कहा था कि –

'The Rigveda is the most sublime conception of the great high ways of humanity.'

अर्थात् ऋग्वेद में मानव मात्र के उत्कृष्ट जीवन की सर्वोत्तम भावना विद्यमान है।

७. रागोज़िन नामक विद्वान् ने भी जिस के यज्ञ विषयक अशुद्ध लेख की इसी परिच्छेद में आगे हम ने आलोचना की है अपनी 'Vedic India' नामक पुस्तक में सम्पूर्णतया वैदिक

शिक्षाओं की उच्चता को निम्न लिखित स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। वे लिखते है—

'Vedic hymns greatly confirm us in the impression that the Aryan moral code, as mirrored in the Rigveda, bore on the whole, a singularly puae and elevated character. So nothing can be more nobly veartiful in feeling and wording than the following on alms giving, or rather on the duty of giving of helping generally (Rig. X. 117).

(Vedic India by Ragozin. P. 374).

भावार्थ—वैदिक सूक्त हमारे इस विचार का प्रबल समर्थन करते हैं कि वैदिक आचार शास्त्र सम्पूर्णतया अत्यधिक पवित्र और उत्कृष्ट था। उदाहरणार्थ दान अथवा दूसरों को सहायता देने के विषय में (जो ऋग्वेद १०–११७ में वर्णित है) कोई शिक्षा भावना और भाषा की दृष्टि से अधिक सुन्दर नहीं हो सकती।

८. मैटर्लिङ्क नामक नोबल-पुरस्कार के विजेता सुप्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक ने अपने 'The great Secret' नाम के ग्रन्थ में बड़े आश्चर्य और श्रद्धा के साथ वेदों के विषय में लिखा है कि—

'Only the glare of the clairvoyant, directed

upon the mysteries of the post, may reveal. *Un-rivalled wisdom*, which lies hidden behind those writings (Vedas). ...... Whence did our pre-historic ancesters in their supposed terrible state of ignorance and abordonment derive these extra ordinary intuitions—that knowledge and assurance which we ourselves are re-conquering.'

('The Great Secret' by Mater link).

भावार्थ—केवल सूक्ष्मदर्शी की अन्तर्दृष्टि है जो वेदों में भरे अनुपम ज्ञान को प्रकट कर सकती है। आश्चर्य यह है कि हमारे प्रागैतिहासिक काल के पूर्वजों ने (जिनके विषय में यह कल्पना की जाती है कि वे घोर अज्ञान की भयङ्कर अवस्था में थे) कहां से वह असाधारण अन्तर्ज्ञान प्राप्त कर लिया जिसको हम ईश्वर से प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं ?

ऐसी अवस्था में क्या वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानना सर्वथा संगत नहीं है।

तृतीय परिच्छेद में सामाजिक कर्तव्यों का वर्णन करते हुए मुख्यत: यज्ञ शब्द के अन्दर अनेक सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्यों का भाव आ जाता है यह दिखाया जा चुका है। जहां कहीं यह 'यज्ञ' शब्द आता है युरोपियन विद्वान् झट उस का Sacrifice ऐसा अर्थ कर देते हैं और अन्य जातियों के अन्दर

पशु-बलि दानादि की प्रथा को दृष्टि में रखते हुए प्राचीन आर्यों के अन्दर भी बकरी, घोड़े, बैल इत्यादि को देवताओं की तृप्ति के लिये बलि चढ़ाने की प्रथा थी ऐसा पहले से मान कर चलते हैं, इन में से कई महानुभावों ने तो प्राचीन समय में मनुष्य बलि भी दी जाती थी यह दिखाने का यत्न किया है। उदाहरणार्थ म० रागोजिन का Stories of the Nation Series में प्रकाशित Vedic India नामक पुस्तक में निम्न लिखित लेख प्रकाशित हुआ है जो बड़ा मनोरञ्जक है—

'There can be no doubt what-ever that human sacrifices were parts of Ancient Aryan worship.'

'An intensified form of Purush Medh is that in which a large number of victims—166 or even 184 men of all sorts and conditions—are immolated. (P. 408).

अर्थात् इस में जरा भी सन्देह नहीं हो सकता कि नर-बलि प्राचीन आर्यों की पूजा पद्धति का भाग थी। पुरुष-मेध का सब से अधिक प्रभावशाली रूप यह है जिस में सब प्रकार और स्थिति के १६६ वा १८४ पुरुषों तक का वध किया जाए। इन सब यज्ञादि विषयक यूरोपियन कल्पनाओं पर विचार करना इस पुस्तक का विषय नहीं। यहां इतना ही कथन

पर्याप्त है कि यज्ञ के लिये अध्वर शब्द का प्रयोग न केवल वेद में बल्कि प्राय: सब के सब प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में पाया जाता है। यज्ञ शब्द के धात्वर्थ के अन्दर पशु बलि चढ़ाने के भाव की गन्ध तक नहीं जब तक यह पहले से कल्पना न कर ली जाए, जैसे कि यूरोपियन विद्वानों ने कर ली है कि देव पूजा के लिये (प्राचीन सारे संसार की जातियों के अन्दर प्रचलित विश्वास के अनुसार) पशुओं की बलि चढ़ाना अत्यावश्यक और अनिवार्य है। अध्वर शब्द का हिंसा रहित कर्म यह अर्थ निरुक्तादि में स्पष्ट दिया है।* साथ ही महाभारत की निम्न-लिखित उक्ति को जब ध्यान में रखते हैं कि—

सुरा मत्स्याः पशोर्मांसमासवं कृशरौदनम् ।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद्वेदेषु विद्यते ॥
अव्यवस्थितमर्यादैर्विमूढैर्नास्तिकैर्नरैः ।
संशयात्मभिरव्यक्तैर्हिंसा समनुवर्णिता ॥

(म० भा० शान्तिपर्व) मोक्षधर्म अ० २६६

अर्थात् मद्य-पान, मत्स्य मांस, मृतक श्राद्ध निमित्त से खिचड़ी बनाना इत्यादि ये सब धूर्तों ने चलाया है। वेद के अन्दर यह सब नहीं बताया गया। जो लोग मूर्ख, मर्यादा न जानने वाले, नास्तिक, संशयात्मा पुरुष हैं, अर्थात् एक शब्द में, जो वेद के तात्पर्य को न समझने वाले धूर्त या मूर्ख लोग हैं उन्हीं ने हिंसा का वर्णन किया है। वेद में हिंसा का विधान

---

* अध्वर इति यज्ञ नाम। ध्वरतिर्हिंसा कर्मा तत्प्रतिषेधः। निरुक्त १।७

नहीं पाया जाता। इन उक्तियों को ध्यान में रखते हुए हम निश्चय पूर्वक यह कहने का साहस करते हैं कि अश्वमेध, गोमेध आदि के विषय में यूरोपियन विद्वानों की कल्पना असंगत है। प्राचीन आर्यों को कम से कम इतना बेवकूफ नहीं माना जा सकता कि वे एक कार्य को हिंसा रहित कार्य के नाम से बार बार पुकारते हुए उस के अन्दर मनुष्यों तक की हिंसा करने में न संकोच करें। आश्चर्य की बात यह है है कि वे ही यूरोपीय विद्वान् जो जिन्दा-अवस्था आदि में आए हुए गोमेज इत्यादि शब्दों को भूमि में हल चलाना वगैरह अर्थ स्वीकार करते हैं वेद में उस के गौओं के मारने के अतिरिक्त और किसी उत्तम अर्थ की कल्पना नहीं कर सकते। यह यज्ञ का विषय बहुत लम्बा चौड़ा होने के कारण स्वतन्त्र विस्तृत निबन्ध की अपेक्षा रखता है इस लिये यहां इस के विस्तार में हम नहीं जा सकते।❀

❀ विस्तार से इस विषय को जानने की इच्छा रखने वाले सज्जन श्री पं० सातवलेकर जी, 'स्वाध्याय मण्डल' पो० पारडी (जि० सूरत) द्वारा सम्पादित 'वैदिक यज्ञ संस्था' नामक ग्रन्थ जिसमें इस लेखक का भी एक लेख 'वैदिकयज्ञ और पशु हिंसा' पर है तथा सुयोग्य विद्वान् श्री विश्वनाथ जी विद्यालंकार, पूर्व अध्यक्ष वेद-महाविद्यालय गुरुकुल कांगड़ी कृत 'वैदिक पशुयज्ञ मीमांसा' नामक पुस्तक अवश्य पढ़ें। 'बौद्ध मत और वैदिक धर्म' अपनी पुस्तक में भी हम ने इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

इस परिच्छेद में वैदिक कर्तव्य शास्त्र की सर्वोच्चता का कारण क्या है इस विषय पर विचार करना प्रारम्भ किया था। समविकाश मध्यमार्ग उपदेशों की ओजस्विता इत्यादि कुछ कारणों का यहां तक निर्देश किया गया है। इस वैदिक कर्तव्य शास्त्र की एक बड़ी विशेषता यह भी है कि इस में मनुष्य समाज को श्रमविभाग वा Division of Labour के वैज्ञानिक उपयोगी सिद्धांत के आधार पर ४ वर्णों में बांट दिया गया है। इन चारों वर्णों का परस्पर प्रेमपूर्वक व्यवहार होना चाहिए। इस वर्ण-व्यवस्था का आधार गुण कर्म स्वभाव पर ही होना चाहिए यह वैदिक सिद्धांत है जिस के विस्तार में जाना यहां अनावश्यक है। यहां इतना ही कथन पर्याप्त है कि किसी भी देश में इन चार प्रकार के लोगों की सत्ता कुछ न कुछ अंश तक अवश्य रहती है। कोई भी देश वा जाति न होगी जिस में अध्यापक वा उपदेशक, सिपाही, व्यापारी और सेवक इनमें से किसी एक का भी सर्वथा अभाव हो क्योंकि उस दशा में समाज का गुजारा चलना ही असंभव है। वैदिक कर्तव्य-शास्त्र के अंदर इन चारों वर्णों के कर्तव्यों और अधिकारों को व्यवस्थित करने का यत्न किया गया है ताकि मनुष्य समाज का धारण उत्तमता से शांति पूर्वक हो सके। जब तक ये चारों वर्णों के लोग अपने अपने कर्तव्यों का पालन करते थे और जन्म से उच्च नीच का भाव न मानते

हुए एक दूसरे के साथ समानता और प्रेम का व्यवहार करते थे तभी तक शांति का सारे संसार में राज्य था। जब से उस वैदिक वर्ण व्यवस्था का स्थान प्रचलित आनुवंशिक जाति भेद ने ले लिया निश्चय उसी दिन से भारत का अधःपतन आरंभ हुआ और हमारे देश की दशा सुधरने की तब तक कोई आशा नहीं जब तक फिर से वैदिक कर्तव्य-शास्त्र में प्रतिपादित वर्ण व्यवस्था का वर्तमान अवस्थाओं को दृष्टि में रखते हुए पुनरुद्धार न किया जाए। निःस्वार्थी तपस्वी ब्राह्मणों की जब तक समाज में प्रधानता नहीं होती तब तक सच्ची उन्नति की आशा रखना सर्वथा व्यर्थ है।

कई महानुभाव इस उपर्युक्त स्थापना की सत्यता में संदेह करते हैं। वे कहते हैं बौद्ध कर्तव्य-शास्त्र के ग्रंथों में और बाइबल इत्यादि में जिस समदृष्टि का वर्णन किया गया है भगवद् गीता में भी—

विद्याविनयसम्पन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः॥

गीता अ० ५। १८

इत्यादि श्लोकों द्वारा जिस समदृष्टि का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है वैदिक कर्तव्य-शास्त्र के अन्दर उस का अभाव पाया जाता है। ऐसे महानुभावों के भ्रम को दूर करने के लिए

इस विषय पर थोड़ा प्रकाश डालना आवश्यक है क्योंकि यह कर्तव्य शास्त्र के साथ विशेष सम्बन्ध रखने वाला विषय है। निम्नलिखित कुछ वेद मन्त्रों पर इसके बारे में विचार करना चाहिए।

१. ऋ० १०।५३।४ में यह मन्त्र आया है—

तदद्य वाचः प्रथमं मंसीय येनासुराँ अभि देवा असाम।
ऊर्जाद उत यज्ञियासः पञ्च जना मम होत्रं जुषध्वम् ॥

इस मन्त्र का अर्थ ऐसा है कि वाणी के उस मूल कारण का हम मनन करते हैं जिस की सहायता से देवों ने असुरों पर विजय प्राप्त किया। जो पुरुष ऊर्जाद् अर्थात् अन्नसेवी हैं जो (यज्ञियासः) पूजनीय हैं वे सब, इतना ही नहीं (पञ्च जनाः) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद वा जंगली भील आदि ये सब के सब (मम होत्रं जुषध्वम्) मुझ ईश्वर की पूजा करो। वाणी के मूल कारण से तात्पर्य संभवतः ओ३म् अथवा वेद का होगा पर पूर्ण निश्चय से नहीं कहा जा सकता। 'पञ्च जना मम होत्रं जुषध्वम्' इन शब्दों से सब पुरुषों का ईश्वर के ध्यान तथा अग्निहोत्रादि करने का समान अधिकार है यह भाव स्पष्ट सूचित होता है। अगले मन्त्र में भी फिर 'पञ्च जना मम होत्रं जुषन्ताम्' ये शब्द आए हैं।

२. यजु० अ० २६ के सुप्रसिद्ध—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चर्याय चारणाय च स्वाय ॥

वा० य० २६। २॥

इस मन्त्र में वेद को पढ़ने का अधिकार चारों वर्णों और निषादों तक को समान रूप से है, यह भाव पाया जाता है।

३. अथर्व० ३। ४। ३ में प्रार्थना है—

इमा याः पञ्च प्रदिशो मानवीः पञ्च कृष्टयः ।
वृष्टेः शापं नदीरिवेह स्फातिं समावहान् ॥

अर्थात् ये पांच दिशाएं (उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम और मध्य भाग) और पांच प्रकार के मनुष्य (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद) ये सब के सब (वृष्टेः शापं नदीरिव) जिस प्रकार वर्षा के पीछे नदी का जल बढ़ जाता है वैसे ही ये (इह) इस संसार में (स्फातिं समावहान्) वृद्धि को प्राप्त होवें। इस मन्त्र में सब के सब मनुष्यों की वृद्धि का अत्युच्च भाव स्पष्ट शब्दों में पाया जाता है।

४. अथर्व १३। ४ (४) ४२ में परमेश्वर की स्तुति करते हुए कहा है—

पापाय वा भद्राय वा पुरुषाय वा सुराय वा ।

यद्वा कृणोष्योषधीर्यद्वा वर्षसि भद्रया ।
यद्वा जन्यमवीवृधः ।
तावांस्ते मघवन् महिमोपो ते तन्वः शतम् ॥

अर्थात् हे (मघवन्) परमैश्वर्य युक्त परमेश्वर तू पापी, सज्जन पुरुष, असुर सब के लिए (औषधीः कृणोषि) ओषधियों वा वनस्पतियों को बनाता है सब के लिए समान रूप से वृष्टि करता और (जन्यं) उत्पन्न होने वाले धान्य आदि को बढ़ाता है । (तावांस्त महिमा) भगवन् यही तेरी बड़ी भारी महिमा है तेरे अनेक उद्भुत रूप हैं अर्थात् तेरे गुण अनन्त हैं ।

इसी मन्त्र के भाव को भगवद्-गीता में—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म, तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥

भ० गी० ५ । १६

इत्यादि श्लोकों द्वारा स्पष्ट किया गया है जिन का अभिप्राय यह है कि जिन लोगों का मन समभाव में स्थित है— जो सब प्राणियों को समान रूप से देखते हैं, वास्तव में वही ब्रह्म में स्थित हैं क्योंकि निर्दोष ब्रह्म की दृष्टि में सब समान हैं । जीसस ने अपने शिष्यों को उपदेश करते हुए मै० । ५ । ४५ के अनुसार—

'That ye may be the children of your Father which is in heaven for He maketh His sun to rise on the evil and the good and sendth rain on just and the unjust.

यह जो बात कही है उसकी उपर्युक्त वेद मन्त्र और गीता वाक्य के साथ तुलना विचार करने योग्य है। समान रूप से वृष्टि का ऊपर के मंत्र में उल्लेख किया गया है। निम्न लिखित मंत्र में समान रूप से सूर्य प्रकाश वाली बात का भी स्पष्ट उल्लेख है।

५. 'त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः। तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति ॥

अथर्व १२। १ १५

इस मंत्र में मातृभूमि को सम्बोधन करते हुए कहा है कि हे (पृथिवि) मातृभूमे! सब मनुष्य तेरे से उत्पन्न होते और तुझ में विचरण करते हैं तू ही मनुष्यों और चौपाए पशुओं को धारण करती है। ये (पञ्चमानवाः) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद सब (तव) तेरे ही समान पुत्र हैं (येभ्यः) जिन सब (मर्त्येभ्यः) मनुष्यों के लिये (उद्यन् सूर्यः) उदय होता हुआ सूर्य समान रूप से (रश्मिभिः) अपनी किरणों से (अमृतं ज्योतिः आतनोति) अमृत स्वरूप

ज्योति का विस्तार करता है। जिस प्रकार परमेश्वर के राज्य में सूर्य समान रूप से सब पर प्रकाशादि करता है उसी प्रकार सब मनुष्यों को परस्पर समान दृष्टि से देखना और प्रेम से बर्तना चाहिये यह वेदमंत्र के अन्दर गुप्त भाव है। इन प्रमाणों से यह बात साफ है कि वेद में समदृष्टि का स्पष्ट उपदेश है। इन्हीं मन्त्रों में वेद के अध्ययन का अधिकार सब पुरुषों को समान है यह बात भी बताई गई है। इसलिए वैदिक कर्तव्य-शास्त्र के इन प्रचलित संकुचित अर्थों में भी सार्वभौम होने में कुछ भी सन्देह नहीं हो सकता। वास्तव में देखा जाए तो किसी धर्म ग्रन्थ को पढ़ने का समान अधिकार सब पुरुषों वा स्त्रियों को होने से ही कोई धर्म सार्वभौम नहीं बन जाता। सार्वभौम धर्म वही हो सकता है जिस में एक व्यक्ति की शारीरिक मानसिक आत्मिक उन्नति किस प्रकार हो सकती है इस बात के निर्देश के अतिरिक्त व्यक्ति का समाज से क्या सम्बन्ध है, राष्ट्रीय उन्नति कैसी हो सकती है, प्रत्येक मनुष्य के पारिवारिक, राष्ट्रीय और सामाजिक कर्तव्य क्या हैं इस विषयक उपयोगी निर्देश पाए जाएं। यह बात बिना किसी तरह के संकोच और संदेह के कही जा सकती है कि सार्वभौम धर्म का यह लक्षण केवल वैदिक-धर्म में ही घटता है अन्य किसी भी मत वा संप्रदाय में वह पूरे तौर पर नहीं घट सकता। धर्म शब्द का धात्वर्थ ही धारण करना है। धर्म वही

है जिस से व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का धारण हो। राजा प्रजा का क्या सम्बन्ध होना चाहिए, राजा के अन्दर कौन कौन से गुण होने चाहियें, प्रजा कैसी होनी चाहिए इत्यादि आवश्यक उपयोगी विषयों का केवल वैदिक कर्तव्य-शास्त्र में ही विचार किया गया है। अन्य बौद्ध, ईसाई इत्यादि मतों के कर्तव्य शास्त्रों में उन सब बातों का निर्देश तक नहीं पाया जाता है। ऐसी अवस्था में उन को पढ़ने का अधिकार सब को समान होने से ही उन को सार्वभौम कर्तव्य शास्त्र का नाम नहीं दिया जा सकता। इतना ही नहीं, उन के अन्दर कई ऐसी शिक्षाएं पाई जाती हैं जिन के अनुसार यदि सब मनुष्य चलने लगें तो समाज वा राष्ट्र का काम चलना बिल्कुल असम्भव हो जाए। उदाहरणार्थ बाईबल के अन्दर धन की जो इतनी निन्दा की गई है और धनी आदमियों के लिए परमेश्वर के राज्य में प्रवेश करना ऊंट के सुई की नोक में से निकालने की अपेक्षा भी अधिक असम्भव है (It is easier for a camel to enter into the eye of a needle than for a rich man to enter into the kingdom of God)

इस को सत्य मानते हुए यदि सब व्यवहार करने लगें तो समाज की कितनी हीन दशा हो जाय। इसी प्रकार 'यदि कोई तुम्हारी एक गाल पर चपेट लगाए तो दूसरी गाल भी उसके सामने कर दो' यदि सब इस शिक्षा का अनुसरण करने लगें

तो निःसन्देह दुष्ट पुरुषों का समाज पर दबदबा हो जाए और उन्हीं की सब जगह दाल गलने लगे, पर ईसाई मत के कर्तव्य-शास्त्र में इस दृष्टि से समाजहित का बिल्कुल विचार तक नहीं किया गया।

यही बात बौद्ध कर्तव्य शास्त्र के विषय में भी सत्य है। यदि गौतम बुद्ध की शिक्षा के अनुसार सब के सब मनुष्य संसार को क्षण-भंगुर और केवल दुःखरूप समझ घर बार छोड़ कर भिक्षु बनने लगें तो समाज और राष्ट्र का कार्य कैसे चले। इस प्रकार की अव्यवस्था को दूर करने के लिए ही वैदिक कर्तव्य शास्त्र में वर्णाश्रम व्यवस्था को स्वीकार किया गया है जो सामाजिक जीवन की हजारों समस्याओं को आसानी से हल कर सकती है। इस प्रकार विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक कर्तव्य शास्त्र की सर्वोच्चता का एक प्रधान कारण उस की सार्व-भौमता अर्थात् सब मनुष्यों के लिए सब अवस्थाओं में समान रूप से उपयोगिता है।

अन्त में उपसंहार के तौर पर दो चार शब्द लिख कर इस पुस्तक को समाप्त किया जाता है।

इस पुस्तक को पांच परिच्छेदों में विभक्त किया गया है। प्रथम परिच्छेद में वैदिक कर्तव्य शास्त्र के मूलभूत ईश्वर की अध्यक्षता में कार्य करने वाले अटल सार्वभौम नियम, कर्म-नियम, जीवन का उद्देश्य, सत्य, निर्भयता, स्वाधीनता, सम विकाशादि सिद्धान्तों की वेद मन्त्रों के आधार पर व्याख्या की गई है।

दूसरे परिच्छेद में वेदमन्त्रों के आधार पर ईश्वरभक्ति, त्रिविध पवित्रतादि, वैयक्तिक और पारिवारिक कर्तव्यों का संक्षेप से विचार किया गया है जिन में स्त्रियों की स्थिति तथा आदर्श विषयक उच्च वैदिक भावों की विशेष तौर पर व्याख्या की गई है।

तीसरे परिच्छेद में यज्ञ को मुख्य तौर पर वेदोक्त सामाजिक कर्तव्यों का स्तंभरूप मानते हुए उस की वेद मन्त्रों के आधार पर थोड़ी सी व्याख्या है और फिर अग्नि इन्द्रादि देवताओं के नाम से वेद में चारों वर्णों के कर्तव्यों का कैसा उत्तम वर्णन है इस बात को दिखाते हुए वैदिक राष्ट्रीय भावों का थोड़ा सा विवरण किया गया है।

चौथे परिच्छेद में ईसाई मत के कर्तव्य-शास्त्र की बौद्ध कर्तव्य-शास्त्र के साथ तुलना की गई है और फिर बौद्ध कर्तव्य शास्त्र की वैदिक कर्तव्य शास्त्र के साथ अनेक आश्चर्यजनक समानताओं का निर्देश करते हुए उन दोनो के परस्पर सम्बन्ध पर थोड़ा प्रकाश डाला गया है।

पांचवें परिच्छेद में वैदिक कर्तव्य शास्त्र की समविकाश, मध्यमार्ग, सार्वभौमता इत्यादि अनेक विशेषताओं का संक्षेप से निर्देश करते हुए एतद् विषयक युरोपियन विद्वानों के मत की थोड़ी सी आलोचना की गई है।

पुस्तक के अन्दर स्थान स्थान पर इस बात का निर्देश

किया गया है कि मनुस्मृति, योगदर्शनादि में वर्णित आचार तथा सामाजिक कर्तव्यों का मूल वेद में ही पाया जाता है। मनुस्मृति में चारों वर्णों के जो धर्म बताये हैं उन का आधार वेद में पाये जाने वाले उपदेशों पर है इस बात को निम्न-लिखित श्लोक द्वारा भृगु ने स्वयं स्पष्ट बताया है—

य: कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना सम्प्रकीर्तित: ।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि स: ॥

अर्थात् मनु महाराज ने जिस जिस वर्ण का जो जो धर्म बताया है वह सब वेद के आधार पर कहा है क्योंकि निश्चय से वेद के अन्दर सारा ज्ञान पाया जाता है। इसी प्रकार योगदर्शन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान ये जो १० यम नियम बताये गए हैं उन का भी मूल वेद में ही पाया जाता है इस बात को पुस्तक में दिखाने का यत्न किया गया है। भगवद्-गीता में दैवी आसुरी प्रकृति तथा अनेक कर्म योगादि विषयक उत्तम तत्व वेद के ही आधार पर वर्णन किए गए हैं—यह बात इस पुस्तक में स्पष्ट रूप से दिखाई गई हैं। इस प्रकार जिस वेद में अन्य कर्तव्य शास्त्रों के सब के सब उत्तम तत्त्व पाये जाते हैं, जिसमें मनुष्य की वैयक्तिक और सामा-जिक उन्नति के लिए आवश्यक सब ही बातों का निर्देश पाया जाता है उस के पढ़ने पढ़ाने का क्रम जब तक फिर से जारी

न किया जायगा तब तक हमें अपने धर्म का सच्चा ज्ञान कभी नहीं हो सकेगा। 'वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है उसको पढ़ना पढ़ाना और सुनना सब आर्यों का परम धर्म है' आचार्य महर्षि दयानंद के इस आदेश की ओर ध्यान देना प्रत्येक आर्य का मुख्य कर्तव्य है॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

परिशिष्ट

वैदिक कर्तव्य शास्त्र और पारसीक कर्तव्य शास्त्र

इस पुस्तक के चतुर्थ परिच्छेद में हमने ईसाई मत की बौद्ध मत के कर्तव्य शास्त्र के साथ और उसकी वैदिक कर्तव्य शास्त्र के साथ संक्षेप से तुलना कर के दिखाई है। पारसी मत के कर्तव्य शास्त्र के साथ वैदिक कर्तव्य शास्त्र की तुलना भी इस तुलनात्मक अनुशीलन में आवश्यक प्रतीत होती है अतः उसे संक्षेप से यहां दरशाया जाता है।

पारसी मत का आधार अधिकतर वैदिक धर्म है और उस के प्रवर्तक ज़रदुश्त एक आर्य सुधारक थे इस बात को आर्य-जगत् के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री पं० गंगाप्रसाद जी एम० ए० कार्यनिवृत्त मुख्य न्यायाधीश टिहरी राज्य ने अपनी— 'Fountain head of Religion' अथवा 'धर्म का आदिस्रोत' (अंग्रेज़ी मद्रास आर्यसमाज द्वारा प्रकाशित, अनुवाद म० राजपाल ऐण्ड सन्स नई सड़क देहली द्वारा प्रकाशित) में सप्रमाण बड़ी उत्तमता से दिखाया है। जो इस विषय को विस्तार से जानना चाहते हैं उन्हें उपर्युक्त ग्रंथ को पढ़ना चाहिए। यहां प्रसंगवश इन दोनों की कर्तव्य शास्त्र विषयक शिक्षाओं का ही कुछ तुलनात्मक अनुशीलन करना है।

आर्य शब्द का प्रयोग

पहली बात जो इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है वह यह

है कि जिस प्रकार वेद में 'विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान् ।' (ऋ० १ । १० । ५१ । ८) 'आर्या व्रता विसृजन्तो अधिक्षमि' (ऋ० १० । ६५ । ११) इत्यादि मन्त्रों द्वारा श्रेष्ठ मनुष्यों के लिए आर्य शब्द का प्रयोग किया जाता है वैसे ही पारसियों की ज़िन्द अवस्ता तथा अन्य धर्म ग्रन्थों में भी आर्य शब्द का प्रयोग बार बार पाया जाता है। जो वाक्य इस विषय में यहां उल्लेखनीय हैं उन में से कुछ का आर्यभाषा में निम्न अनुवाद है—

आर्यों की प्रतिष्ठा में जिन्हें अहुर मज्दा (परमेश्वर) ने बनाया (सिरोज़ह १ । २५)

हम आर्यों के सन्मानार्थ हवन करते हैं जिन्हें मज्दा ने बनाया (सिरोज़ह ११ । ६) ।

आर्यों में का आर्य (८ यश्त ६) ।

गोचरों के स्वामी मित्र की प्रतिष्ठा और प्रभुता के उपलक्ष्य में ऐसी हवि चढ़ाऊंगा जो अवश्य ही स्वीकार की जायगी। विस्तृत गोचरों के स्वामी को जो आर्य जाति के निमित्त आनंददायक सुन्दर निवास स्थान प्रदान करता है हम हवि चढ़ाते हैं। (१० यश्त ४)

अहुर मज्द (असुर महान्—परमेश्वर) ने कहा यदि लोग वृत्रहन् को भेंट चढ़ाएंगे जिसे अहुर ने बनाया है तो आर्यों के देशों में किसी शत्रु की सेना का प्रवेश न हो सकेगा,

न कुष्ठ, न विषैले वृक्ष, न किसी शत्रु का रथ और न वैरी का उठा हुआ भाला स्थान पा सकेगा (बहराम यश्त ४८ ज़िन्द अवस्था भाग २ पृ० २४४)

अस्तद यश्त का १८ वां अध्याय केवल आर्यों की वीरता से भरा हुआ है जिस के प्रारम्भिक श्लोक का निम्न अनुवाद है—

अहुर मज़्दा ने स्पितामा ज़ारदुश्त से कहा—मैंने आर्यों को भोजन, पशु समूह, धन प्रतिष्ठा, ज्ञान भण्डार और द्रव्य-राशि से सम्पन्न किया है जिस से वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति और शत्रुओं का सामना कर सकें। (ज़िन्द अवस्था भाग २ पृ० २८३)।

त्रिविध पवित्रता पर सब से अधिक बल

पारसी मत की धर्म पुस्तक में वेदों के समान मन, वाणी और कर्म की पवित्रता पर बहुत अधिक बल दिया गया है। इन्हें हुमतम्, हूख्तम्, हूश्तम् इन शब्दों से कहा गया है जो सुमतम्, सूक्तम्, सुकृतम् के ही अपभ्रंश हैं अर्थात् मन में अच्छे विचार रखना, वाणी से अच्छे शब्दों का उच्चारण करना तथा इन्द्रियादि से अच्छे कार्य करना यह प्रत्येक व्यक्ति का प्रधान कर्तव्य है।

यस्न ३१। ८ में लिखा है कि हे महान् असुर-जीवन

प्रदाता महान् ईश्वर ! मैंने अपने मन में यह चिन्तन किया है कि तू ही आदि और तू ही अन्त है; तू उत्तम विचार का पिता है, तूने सचमुच ऋत (सत्य) को उत्पन्न किया और तू ही मनुष्यों को कर्मानुसार फल देने वाला न्यायकारी है।

वेन्द्रिडाड (५ । २१) नामक पारसी धर्म ग्रन्थ में लिखा है कि मनुष्य के लिए पवित्रता जीवन से दूसरी श्रेणी पर सर्वोत्तम वस्तु है। वह पवित्रता जो मज्द (महान् ईश्वर) के धर्म में पाई जाती है उसे प्राप्त होती है जो अच्छे शब्दों और कर्मों से अपने मन को निर्मल बनाता है। यस्न ४५–११ में अहुर मज्द ने कहा है कि जो मूर्तियों और शरारती मनुष्यों को हेय समझता और उन का सत्य और पवित्रता के मार्ग पर चलने वालों से भेद करता है अहुर मज्द (परमेश्वर) उस के लिए मित्र, भ्राता और पिता के समान कल्याणकारी होता है।

आशेम वोहु नामक प्रार्थना का जो पारसी लोग प्रतिदिन करते हैं—अंग्रेजी अनुवाद बड़ौदा युनिवर्सिटी के प्रोवाइस चान्सलर प्रो० ए० आर वाडिया नामक पारसी विद्वान् ने 'Zoroaster' (Published by Nateshan & Co. Madras) नामक अपनी अत्युत्तम पुस्तक में निम्न शब्दों में दिया है—

'Purity is good. Purity is best. It is happi-

ness. Happiness is for him who observes purity in order to attain the highest purity.'

('Zoroaster' P. 39).

अर्थात् पवित्रता अच्छी है। पवित्रता सब से अच्छी वस्तु है। यही सच्ची प्रसन्नता है। प्रसन्नता उसी को प्राप्त होती है जो पवित्रता का आचरण करता है इस लिए कि वह सर्वोच्च पवित्रता को पा सके। ऐसा ही यथा आहु वैर्यो नामक दूसरी सुप्रसिद्ध प्रार्थना में है। इन प्रार्थनाओं में पवित्रता पर जो बल दिया गया है वह प्रशंसनीय है किन्तु यह बात यहां स्मरणीय है कि प्रो० वाडिया जैसे पारसी विद्वान् भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि ये प्रार्थनाएं ज़रदुश्त के जन्म से बहुत पहले से प्रचलित हैं। प्रो० वाडिया ने इस तथ्य का उल्लेख करते हुए अपनी उपर्युक्त ज़रदुश्त विषयक पुस्तक के पृ० ३९ में लिखा है—

'Both of these prayers are reputed to have come down from the pre-Zoroastrion times and this is in keeping with the tradition that Zoroaster was not the first to preach the mazdayasnian faith.' (P. 39).

अर्थात् ये दोनों प्रार्थनाएं ज़रदुश्त से प्राचीन काल से चली आ रही हैं यह बात प्रसिद्ध है और इस परम्परागत

विश्वास से इस की संगति मिल जाती है कि जरदुश्त मज़्द या पारसी मत का प्रथम प्रचारक न था।

वस्तुतः 'यथा आहुर् वैर्यो' का अर्थ ही यह है कि जैसे वीर कहते आये हैं। वेदों में पवित्रता पर कितना बल दिया गया है इस बात को हम—

पवमानः सो अद्य नः पवित्रेण विचर्षणिः।
यः पोता स पुनातु नः॥ ऋ० ६। ६७। २२

सहस्र धारे वितते पवित्र आ वाचं पुनन्ति कवयो मनीषिणः॥ (ऋ० ६। ७३। २२

चित्पतिर्मा पुनातु वाक् पतिर्मा पुनातु...तस्यते पवित्र पूतस्य यत् कामः पुने तच्छकेयम्॥ (यजु० ४। ४)

इत्यादि मन्त्रों का द्वितीय परिच्छेद में 'आंतरिक और बाह्य पवित्रता' इस शीर्षक के नीचे अर्थ सहित उल्लेख करके बता चुके हैं। पाठक महानुभावों से हम उन पर पुनः दृष्टिपात करने की प्रार्थना करते हैं ताकि वे पारसीक कर्तव्य शास्त्र से उनकी तुलना कर सकें।

उपनयन संस्कार और नवजोतक्रिया

इसी पवित्रता के प्रसंग में प्रो० वाडिया ने पारसियों में प्रचलित नवजोत संस्कार का उल्लेख किया है जिसमें बालक बालिकाओं को कुस्ती नामक पवित्र सूत्र पहनाया जाता है।

यह संस्कार ७वें, ९ वें अथवा ११ वें वर्ष में होता है। यह हिन्दुओं के उपनयन संस्कार के साथ मिलता है और इस के द्वारा बालक बालिकाओं को धर्म में दीक्षा दी जाती है। इस लिए इस संस्कार को नवजोत कहते हैं जिसका शब्दार्थ नया जन्म है। (It corresponds to the Hindu Upanayanam. It marks the initiation of a boy or girl into the religion and therefore, the ceremony is called Navjote, which literally means new birth.' (See 'Zoroaster by Prof. A. R. Wadia P. 40).

नवजोत शब्द संस्कृत के नवजात शब्द से निकलता है क्योंकि उपनयन द्वारा बालक बालिका का द्वितीय जन्म माना जाता है जैसा कि द्विज शब्द भी सूचित करता है। इस पवित्र सूत्र के धारण का तात्पर्य (जो स्पष्टतया हमारे यज्ञोपवीत से मिलता है) पवित्रता के साथ साथ बुराई से युद्ध की तैयारी का है। जिस प्रकार यज्ञोपवीत के तीन सूत्र मन, वचन और कर्म की पवित्रता को सूचित करते हैं वैसे ही पारसियों के कुस्ती के ३ तार भी तीन प्रकार की पवित्रता के द्योतक हैं। उत्तम विचार, उत्तम शब्द और उत्तम कर्म (Good thoughts, good words, good deeds) ये इस पवित्र सूत्र द्वारा सूचित होते हैं। इस प्रकार इन की अद्भुत समानता दर्शनीय है—

यज्ञोपवीतंपरमंपवित्रं प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात् ।
आयुष्यमग्र्यं प्रति मुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥

इस पारस्कर गृह्यसूत्रोक्त वचन का आधार—

यो यज्ञस्य प्रसाधनस्तन्तुर्देवेष्वाततः ।
तमाहुतं नशीमहि ॥ (ऋ० १० । ५७ । २)

उपवीतिने पुष्टानां पतये नमः (यजु० १६ । १७) इत्यादि वेदमन्त्रों पर है ।

सत्य, न्याय और उदारता पर बल

प्रो० वाडिया ने अपनी ज़रदुश्त विषयक अत्युत्तम पुस्तक के 'Ethical teaching of Zoroaster' इस शीर्षक अध्याय में पारसी धर्म ग्रन्थों के अनेक वचन उद्धृत कर के बताया है कि पवित्रता के अतिरिक्त सत्य, न्याय और उदारता पर भी उन में बल दिया गया है ।

सत्य के विषय में गाथा अहुनावाद यस्न ३३ । ५ में कहा है कि हम सत्य के उन मार्गों का अनुसरण करें जहां अहुर मज़्द (परमेश्वर) अपनी पवित्रता के साथ निवास करता है।

गाथा वहिश्तोइश्त यस्न ५३ । २ में कहा है कि सत्य के मार्ग को अहुर मज़्द (परमेश्वर) ने बनाया है । गाथा अहुनावाद यस्न २६ । ५ में बताया गया है कि सत्यवादी को कभी हानि नहीं पहुंचती । यस्न ५६ । ५ में प्रार्थना है कि यहां सदा सत्य की असत्य पर विजय होती रहे । इत्यादि ।

सत्य के विषय में अत्युत्तम वैदिक शिक्षाओं को हम प्रथम परिच्छेद में दिखा चुके हैं जिन में यहां तक कहा गया है कि—'सत्येनोत्तभिताभूमि: ।' (ऋ० १० । ८५ । १)

अर्थात् सत्य ने ही पृथिवी को धारण किया हुआ है ।

'ऋतस्य धीतिर्वृजिनानिहन्ति' अर्थात् सत्य का धारण सब पापों को दूर कर देता है । इत्यादि । अत: उनका फिर उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं । न्याय और उदारता विषयक वैदिक शिक्षाओं को सप्रमाण प्रथम परिच्छेद में दर-शाया जा चुका है ।

असत्य से द्वेष

पारसी मत की एक बड़ी विशेषता प्रो० वाडिया तथा अन्य विद्वानों ने यह बताई है कि इसमें न केवल सत्य से प्रेम करना और उस पर आचरण करना बताया गया है बल्कि उस के साथ असत्य से द्वेष और उसके घोर विरोध पर भी बल दिया गया है ।

वस्तुत: वेदों में भी सत्य की रक्षा और वृद्धि के साथ असत्य के खण्डन और निवारण पर बड़ा बल पाया जाता है । देवों का लक्षण ही वेदों में यह किया गया है कि—

ऋतावान ऋतजाता ऋतावृधो घोरासो अनृतद्विष: ।
(ऋ० ७ । ६६ । १३)

अर्थात् वे सत्य सम्पन्न, सत्य में ही मानो उत्पन्न और सत्य की वृद्धि करने वाले तथा असत्य के घोर द्वेषी होते हैं।

ज़रदुश्त ने अपने समय में प्रचलित मूर्ति पूजा, अपवित्र जीवन, यज्ञों में गवादि पशु हिंसा इत्यादि बुराइयों का जो प्रबल खण्डन किया वह प्रशंसनीय ही था। ऐसा ही वैदिक धर्म के विशुद्ध रूप में पुनरुद्धारक महर्षि दयानंद ने किया जिन की पवित्र भावना को न समझ कर कुछ लोगों ने ज़र-दुश्त की तरह उन्हें भी असहिष्णु बताया।

समाज का ४ वर्गों में विभाग

जिस प्रकार वैदिक धर्म में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्गों में समाज का विभाजन किया गया है वैसा ही प्राचीन पारसी मत में भी था। यह हम पहले बता ही चुके हैं कि इस वर्ण व्यवस्था का आधार जन्म पर नहीं गुण कर्म स्वभाव पर ही था। इसी प्रकार पारसी मत के ग्रंथों में भी समाज का ४ वर्गों में विभाजन किया गया है जिन में से २ के नाम तो स्पष्टतया वेद से मिलते जुलते हैं। इन ४ वर्गों के नाम अथ्रवण या पुरोहित (आथर्वण) रथेस्तर क्षत्रिय (संस्कृत 'रथेष्ठाः' यजु० २२। २२ इत्यादि में प्रयुक्त) वास्त्रियोफ्श्या (वैश्य) कृषिकार हुइती—कारीगर वा मज़दूर (शूद्र) हैं।

पारसी मत विषयक सुप्रसिद्ध लेखक डा० हॉग ने

Essays on the Religion and language of the Parsis नामक अपनी पुस्तक में स्पष्ट लिखा है कि 'In the religious records of the Iranians, who are so nearly allied (to the Indians) in the Zend Avesta, the four castes are quite plainly to be found, only under other names—

(1) Athravan 'Priest' (Sanskrit Atharwan), (2) Rathaestar 'Warrior' (3) Vastriyofshyas 'Cultivator' (4) Huites 'Work men.'

(Yasna 19. 17).

अर्थात् ईरानियों के (जो भारतीयों से बहुत समता रखते हैं) धर्मग्रन्थ में स्पष्टतया ४ वर्णों का वर्णन कुछ भिन्न नामों से पाया जाता है जो क्रमशः अथ्रवण, रथेष्टर, वास्त्रियोफ्श्या और हुइती हैं।

यही बात प्रो० डार्मेस्टर ने जिन्द अवस्था के अनुवाद में लिखी है—

'We find in it (the Dinkirt) a description of the four classes which strikingly reminds one of the Brahmanical account of the origin of castes (Chap. XLII) and which were certainly borrowed from India.' (Zend Avesta' Part 1, Introduction P. 33).

अर्थात् हम इस में (दिनकिर्त में) चार वर्णों का वर्णन पाते हैं जो आश्चर्य के साथ हमें उस वर्णन का स्मरण कराता है जो ब्राह्मणों की पुस्तकों में वर्णों की उत्पत्ति के विषय में है और जो निस्सन्देह भारतवर्ष से लिया गया है।

एकेश्वर पूजा

अन्य अनेक अद्भुत समानताओं को विस्तार भय से छोड़ते हुए हम वैदिक धर्म और पारसी मत की ईश्वर विषयक कल्पना पर संक्षेप से कुछ प्रकाश तुलनात्मक दृष्टि से डालना चाहते हैं क्योंकि कर्तव्य शास्त्र के साथ इस विषय का घनिष्ठ सम्बन्ध है। वैदिक धर्म में एक ही परमेश्वर की पूजा का विधान पाया जाता है इस बात को सिद्ध करने के लिये—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

(ऋ० म० १। १६४। ४६)

य एक इत तमु ष्टुहि कृष्टीनां विचर्षणिः। पतिर्जज्ञे वृषक्रतुः॥

(ऋ० अ० ४। ७। २४)

मा चिदन्यद् विशंसत सखायो मा रिषण्यत।
इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचासुते मुहुरुक्था च शंसत॥

(ऋ० ८। १। १)

प्रजापते नत्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव॥

(ऋ० १०। १२१। १०)

दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्ययस्पतिरेक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः।
तं त्वा यौमि ब्रह्मणा दिव्यदेव नमस्ते अस्तु दिवि ते सधस्थम्॥
(अथर्व ४। २। १)

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते।
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते।
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते।
स एष एक एकवृदेक एव॥
(अथर्व १३। ४। १४-२१)

इत्यादि सैंकड़ों मन्त्रों को उद्धृत किया जा सकता है जिन में स्पष्ट बताया गया है कि विद्वान् लोग एक ही परमेश्वर को इन्द्र मित्र वरुण अग्नि यम मातरिश्वा आदि अनेक नामों से उस के अनन्त गुणों की दृष्टि से पुकारते हैं।

हे मनुष्य (यः एकः इत्) जो परमेश्वर एक ही है (तम् उ स्तुहि) उसकी ही तू स्तुति कर। वह (विचर्षणिः) सर्वज्ञ (वृषक्रतुः) सर्व शक्तिमान् (पतिः जज्ञे) सारे संसार का स्वामी है। (सखायः) हे मित्रो ! (अन्यत् चित्) परमेश्वर को छोड़ कर और किसी की (मा विशंसत) मत स्तुति करो और (मा रिषण्यत) मत दुःख उठाओ। (सुते) यज्ञादि में (वृषणम्) सुखों की वर्षा करने वाले (इन्द्रम् इत्) एक परमेश्वर की ही (स्तोत) स्तुति करो (मुहुः) बार २ (उक्था च शंसत) मंत्र बोल कर उसी की स्तुति करो (प्रजापते) हे

सारी प्रजा के स्वामी परमेश्वर (त्वत् अन्यः) तुझ से अति-रिक्त कोई (एतानि विश्वा जातानि) इन सब उत्पन्न पदार्थों में (न परि बभूव) व्यापक और इन का स्वामी नहीं है। (यः) जो (दिव्यः) दिव्य गुण युक्त (गन्धर्वः) वेद वाणी अथवा पृथिवी का धारण करने वाला (भुवनस्य पतिः) संसार का पालक है जो (एकः एव) अकेला ही (विक्षु ईड्यः) सब प्रजाओं के लिये पूजनीय है (दिव्य देव) हे अद्भुत सुख शान्तिदातः (ब्रह्मणा) वेद मंत्र के द्वारा (तं त्वा यौमि) उस तेरे साथ मैं अपने को जोड़ता हूं (ते नमः अस्तु) तुझे नमस्कार हो (ते) तेरा (दिवि) ज्ञान के प्रकाश में (सधस्थम्) हमारे आत्मा के साथ स्थान है। परमेश्वर (एकः) एक है (एक वृत्) एक होते हुए भी उस ने सब को व्याप रखा है वह (एकः एव) एक ही है। (न द्वितीयः न तृतीयः चतुर्थः अपि न उच्यते '' दशमः अपि न उच्यते) दो, तीन, चार, पांच, छः, सात, आठ, नौ, दस ईश्वर नहीं। ईश्वर एक ही है। इत्यादि❀

पारसियों को प्रायः अग्नि पूजक माना जाता है। इस

❀ इस विषय का विस्तृत विवेचन हमने अपनी आर्य धर्म निबन्धमाला (म० राजपाल ऐन्ड सन्स नई सड़क देहली द्वारा प्रकाशित) भारतीय समाज शास्त्र (आर्य साहित्य मण्डल अजमेर द्वारा प्रकाशित) इत्यादि में किया है जिसे पाठक वहां देख सकते हैं।

में सन्देह नहीं कि वैदिक आर्यों के समान पारसियों में अग्नि का विशेष महत्त्व स्वीकार किया जाता है। वे इसे परमेश्वर के प्रकाश और पवित्रता का प्रतीक मानते हैं। पीछे जा कर यह विचार बहुत कुछ अग्नि पूजा के रूप में भी परिवर्तित हो गया किन्तु अनेक पारसी विद्वानों ने प्राचीन पारसी ग्रन्थों के प्रमाण देकर इस बात को स्पष्टतया सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि वे एकेश्वर के ही पूजक हैं न कि अग्नि पूजक। साथ ही वे इस बात से भी इन्कार करते हैं कि पारसी मत में स्पेन्ता मैन्यूष और अङ्गिरा मैन्यूष के नाम से अच्छाई और बुराई के कर्ता दो पृथक् ईश्वर माने गये हैं। प्रो० वाडिया की जिस उत्तम पुस्तक का हम ने इस 'परिशिष्ट' में कई स्थानों पर उल्लेख किया है उस में भी इस विषय पर प्रकाश डाला गया है और यही बताया गया है कि यद्यपि पीछे से पारसी मत में बहु देवतावादादि प्रचलित हो गये तथापि मूलतः पारसी मत में एक ईश्वर की पूजा का ही विधान किया गया है। स्पेन्ता मैन्यूष और अङ्गिरा मैन्यूष अच्छाई और बुराई के प्रतिनिधि हैं न कि दो पृथक् कर्ता ईश्वर।

इस विषय का विस्तृत विवेचन सुप्रसिद्ध पारसी विद्वान् श्री फेरुदून दादा चान जी B. A. L L. B., D. T. ने अपनी Philosophy of Zoroatstrianism and Comparative Study नामक ग्रन्थ में किया है। इस में Are Zoroas-

tians fire worshippers ? (क्या पारसी लोग अग्नि पूजक हैं ?) (पृ० ६१-६६) तथा 'Thoughts from the Vedas that emphasise the Zoroastrian Religious View.' (P. 100-102) ये दो प्रकरण विशेष रूप से पढ़ने योग्य हैं जिन में सिद्ध किया गया है कि पारसी अग्नि के पूजक नहीं। वे एकेश्वर पूजक हैं हां, वे अग्नि को परमेश्वर के प्रकाश और पवित्रता का प्रतीक मानते हैं। वेदों के ईश्वर वाद पर बड़ा उत्तम प्रकाश डालते हुए विद्वान् लेखक ने स्पष्ट लिखा है कि:—

'The Vedas teach nothing but monotheism of the purest kind, the belief that this vniverse manifests the love, might, wisdom and glory of God who eternally evolves and dissolves alternately innumerable systems of worlds for the benefit, discipline and well-being of Jeeva-Atmas according to the eternal law of Nature (called Rita in the Vedas) and also according to the laws of Karma.'

(Philosophy of Zoroastranism by F. Dadachanji. P. 101-102).

अर्थात् वेदों में सर्वथा विशुद्ध एकेश्वरवाद का ही प्रतिपादन है जो इस रूप में है कि यह जगत् परमेश्वर के

प्रेम, शक्ति, बुद्धिमत्ता और महत्त्व को प्रकट करता है। वह परमेश्वर जीवात्माओं के उपकार और कल्याण के लिये कर्म नियमानुसार लोक लोकान्तरों का निर्माण करता है इत्यादि। विस्तार भय से हम एतद्विषयक तुलनात्मक अनुशीलन को यहीं समाप्त करते हैं।

परिशिष्ट २

वेदों में वानप्रस्थ और संन्यास विषयक निर्देश

'वैदिक कर्तव्य शास्त्र' में ब्रह्मचर्य और गृहस्थ विषयक कर्तव्यों का निर्देश किया जा चुका है किन्तु वानप्रस्थों और संन्यासियों के कर्तव्यों का वर्णन अभी तक पृथक् नहीं आया। कई महानुभावों का तो यह भी विचार है कि वेदों में आश्रम-व्यवस्था का प्रतिपादन नहीं है विशेषतः वानप्रस्थ और संन्यास का तो वहां कोई विधान नहीं पाया जाता। किन्तु हमारी सम्मति में इस प्रकार का विचार सर्वथा अशुद्ध है। वेद के

'चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिजे चारूणि चक्रे यदृतैरवर्धत।

ऋ० ६।७०।१ सामवेद पूर्वाधिक ५।६।७

इत्यादि मंत्रों में यह बताया गया है कि (यत्) जब मनुष्य (ऋतैः) यज्ञ और वेदज्ञान तथा सत्य द्वारा (अवर्धत) वृद्धि को प्राप्त होता है तो (चत्वारि) चारों (भुवना) आश्रमों को (निर्णिजे) पवित्र कर देता है और (अन्या चारूणि चक्रे) मानो साधारण रूप से अन्य से किन्तु वस्तुतः बहुत सुन्दर (चक्रे) बना देता है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य सत्य, वेद ज्ञान तथा यज्ञ भावना द्वारा आश्रमों के रूप को साधारणरूप से भिन्न, और अत्युत्तम बना देते हैं जिससे लोग उनकी ओर आकृष्ट होने लगते तथा उनके महत्त्व को समझने लगते हैं।

'भुवनानि' शब्द का प्रयोग यहां आश्रमों के अर्थ में ही प्रतीत होता है।

'श्रेष्ठा भवन्ति जना एभिरिति व्युत्पत्त्या।'

अर्थात् जिनके द्वारा मनुष्य श्रेष्ठ बनते हैं। वानप्रस्थाश्रम का स्पष्ट वर्णन अथर्व ९। ५। १ के निम्न मंत्र में है—

'आनयैतमारभस्व सुकृतां लोकमपि गच्छतु प्रजानन्।
तीर्त्वा तमांसि बहुधा महान्त्यजो नाकमाक्रमतां तृतीयम्॥

इस मंत्र का महर्षि दयानन्द ने शब्दार्थ इस प्रकार किया है जो मननीय है—

हे गृहस्थ (प्रजानन्) प्रकर्षता से जानता हुआ तू (एतम्) इस वानप्रस्थाश्रम का (आरभस्व) आरम्भ कर (आनय) अपने मन को गृहस्थाश्रम से इधर की ओर ला (सुकृताम्) पुण्यात्माओं के (लोकम् अपि) देखने योग्य वानप्रस्थाश्रम को भी (गच्छतु) प्राप्त हो (बहुधा) बहुत प्रकार के (महान्ति) बड़े २ (तमांसि) अज्ञान दुःख आदि संसार के मोहों को (तीर्त्वा) तर के अर्थात् पृथक् होकर (अजः) अपने आत्मा को अजर अमर जान (तृतीयम्) तीसरे (नाकम्) दुःख रहित वानप्रस्थाश्रम को (आक्रमताम्) रीतिपूर्वक आरूढ़ हो।

यहां महर्षि दयानन्द जी की व्याख्यानुसार भी आश्रम के लिये 'लोक' शब्द का प्रयोग हुआ है जो भुवन का ही पर्याय-

वाची है। 'तृतीयं नाकम्' से आश्रमों में तीसरे दुःख रहित अथवा मोक्ष साधन वानप्रस्थाश्रम का ग्रहण सर्वथा उचित ही है।

ऋग्वेद १०। १४६ का अरण्यानी सूक्त स्पष्टतया वानप्रस्थाश्रमवासिनी देवी का वर्णन करता है जिस के निम्नलिखित मंत्रों का उल्लेख ही यहां पर्याप्त है—

न वा अरण्यानिर्हन्त्यन्यश्चेन्नाभि गच्छति।
स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय यथा कामं निपद्यते॥

अर्थात् घने जङ्गल में वानप्रस्थाश्रमवासिनी देवी किसी की हिंसा नहीं करती और स्वादु फलों का सेवन कर के तपस्या साधना स्वाध्यायादि द्वारा अपनी शुभ कामना की पूर्ति करती है।

संन्यासाश्रम विषयक निर्देश

वेदों में संन्यासाश्रम का विधान नहीं है ऐसा भ्रम अनेक शिक्षित लोगों और विद्वानों में भी फैला हुआ है किन्तु महर्षि दयानन्द जी के वेद भाष्य पढ़ने से इसका पूर्णतया निवारण हो जाता है। यद्यपि संन्यासी इस शब्द का प्रयोग वेदों में नहीं है तथापि यतिः, वैश्वानरः अग्निः, ब्राह्मणस्य विजानतः, इत्यादि शब्दों द्वारा संन्यासियों के कर्तव्यों का स्पष्ट प्रतिपादन है। उदाहरणार्थ निम्न वेद मंत्रों को देखिये—

प्राग्नये विश्वशुचे धियन्धेऽसुरघ्ने मन्म धीतिं भरध्वम्।

भरे हविर्न बर्हिषि प्रीणानो वैश्वानराय यतये मतीनाम् ॥

ऋ० ७ । १३ । १

इस पर महर्षि दयानन्द का भाष्य दर्शनीय है—

(अग्नये) अग्निरिव विद्यादि शुभगुणैः प्रकाशमानाय (विश्वशुचे) यो विश्वं सर्वं जगत शोधयति (धियन्धे) यो धियं दधाति तस्मै (असुरघ्ने) योऽसुरान् दुष्ट कर्मकारिणो हन्ति तिरस्करोति तस्मै (मन्म) विज्ञानम् (धीतिम्) धर्मस्य धारणाम् (हविः) दातव्यम् अत्तव्यम् अन्नादिकं (बर्हिः) सभायाम् (प्रीणानः) प्रसन्नः (वैश्वानराय) विश्वेषां नराणां नायकाय (यतये) यतमानाय संन्यासिने (मतीनाम्) मनुष्याणां मध्ये

भावार्थः—हे गृहस्थाः ! ये ऽग्निवद् विद्यासत्यधर्मप्रकाशकाः अधर्मखण्डनेन सत्यमण्डनेन सर्वेषां शुद्धिकराः, प्राज्ञाः, प्रमाप्रदाः अविद्यत्ताविनाशका मनुष्याणां विज्ञानं धर्मधारणं च कारयन्तो यतयः संन्यासिनो भवेयुस्तत्सङ्गेन सर्वे-यूयं प्रज्ञां धृत्वा निःसंशया भवत । यथा राजा युद्धस्य सामग्रीमलङ्करोति तथैव यतिवराः सुखस्य सामग्रीमलंकुर्वन्ति ॥

अर्थात् हे गृहस्थो ! जो अग्नि की तरह विद्या और सत्य-धर्म के प्रकाशक, अधर्म के खण्डन और सत्य के मण्डन से सब को शुद्ध पवित्र करने वाले, बुद्धिमान्, ज्ञानप्रदाता, अविद्या के विनाशक और मनुष्यों को विज्ञान और धर्म को

धारण कराने वाले संन्यासी हों उन के सङ्ग से तुम शुद्ध बुद्धि को धारण कर के संशय रहित हो जाओ।

जातो यदग्ने भुवना व्यख्यः पशून् न गोपा इर्यः परिज्मा।
वैश्वानर ब्रह्मणे विन्द गातुं यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥
ऋ० ७। १३। ३

इस का भाष्य महर्षि दयानन्द ने संन्यासि धर्मपरक करते हुए लिखा है:—

(अग्ने) अग्निरिव विद्वन् ! (भुवना) लोकलोकान्तरान् (वि) विशेषेण (आख्यः) प्रकाशयति (इर्यः) सत्यमार्गे प्रेरकः (परिज्मा) परितः सर्वतोऽजति गच्छति (वैश्वानर) विश्वेषु नरेषु प्रकाशक (ब्रह्मणे) परमेश्वराय वेदाय वाऽथवा चतुर्वेद विदे (विन्द) प्राप्नुहि (गातुम्) प्रशंसितां भूमिम् (स्वस्तिभिः) स्वास्थ्यकारिणीभिः क्रियाभिः (हे वैश्वाराग्ने) यते।)

भावार्थः—ये सूर्यवत् प्रख्यात परोपकारोपदेशा वत्सान् गाव इव विद्यादानेन सर्वेषां रक्षकाः सर्वदा भ्रमन्तो वेदेश्वर विज्ञानाय राज्यरक्षणाय नृप इव न्यायशीला भूत्वा सर्वानज्ञान् बोधयन्ति ते सदैव सर्वैः सत्कर्तव्याः। अत्राग्निदृष्टान्तेन संन्यासिगुणवर्णनम्॥

अर्थात् जो संन्यासी परोपकार और ज्ञानोपदेश के कारण प्रसिद्ध होते हैं। गौवें-बछड़ों की जैसी रक्षा करती हैं वैसे

विद्या दान से जो सब के रक्षक होते हैं, जो वेद और ईश्वर विषयक ज्ञान देने के लिए सर्वदा भ्रमण कर के न्यायशील हो कर सब अज्ञानियों को ज्ञान प्रदान करते हैं उनका सदा सत्कार करना चाहिये।

इसी प्रकार ऋ० ७। १४। १, २, ३, ऋ० ७ १५। १ इत्यादि मन्त्रों में संन्यासि धर्म का बड़ा सुंदर प्रतिपादन है। महर्षि दयानन्द ने उन मन्त्रों की संन्यासपरक ही व्याख्या की है जो प्रकरण संगत तथा शिक्षाप्रद है।

ये देवानां यज्ञिया यज्ञियानां मनोर्यजत्राअमृता ऋतज्ञाः।
ते नो रासन्तामुरु गायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥
ऋ० ५। ३। ३७

इत्यादि मन्त्रों में भी पूज्य ज्ञानियों में अत्यन्त पूजनीय, वेद तथा सत्य के ज्ञाता संन्यासियों का निर्देश करते हुए उन से उत्तम उपदेश दे कर रक्षा की प्रार्थना की गई है किन्तु विस्तार भय से उन सब का यहां उल्लेख नहीं किया जा सकता। भ्रम निवारणार्थ अभी इतना ही लेख पर्याप्त है।

★

वैदिक कर्तव्य शास्त्र पर सम्मति

यह एक नई मनभावनी पुस्तक है। वेदमन्त्रों के द्वारा मानव कर्तव्यों का ऐसा विशद वर्णन और सूक्ष्म विवेचन किसी भी ग्रन्थ में देखा नहीं गया। बड़े हर्ष का विषय है कि आर्यसमाज के साहित्य में इस ग्रन्थ रत्न के द्वारा एक बड़े अभाव की पूर्ति हो गई। इस में वेदमन्त्रों की संगति लगा कर बड़ी खूबी से कर्तव्यों की फ़िलासफ़ी समझाई गई है। वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, चारों वर्ण व चारों आश्रम के निदान सभी कर्तव्यों का भली भांति दिग्दर्शन कराया गया है। ईसाई मत व बौद्ध मत के सिद्धांतों की श्रेष्ठता तथा वैदिक धर्म की सार्वभौमता सिद्ध की गई है। प्रस्तुत पुस्तक में निम्नाङ्कित पांच परिच्छेद हैं—

(१) वैदिक कर्तव्य शास्त्र के १२ मूल सिद्धांतों की व्याख्या

(२) वेदोक्त, वैयक्तिक और पारिवारिक कर्तव्य

(३) यज्ञ

(४) वैदिक कर्तव्य शास्त्र पर तुलनात्मक विचार

(५) वैदिक कर्तव्य शास्त्र की सर्वोच्चता का कारण

इस में कुल ३५ विषयों पर मनोहर लेख हैं। अनुभवी लेखक ने प्रत्येक विषयों को बड़ी दूरदर्शिता, गम्भीरता और निष्पक्षपातता के साथ लिखा है। यह का० वा० प्रचा० सभा द्वारा प्रकाशित 'कर्तव्य शास्त्र' के जोड़ की पुस्तक है। हिन्दू मात्र के मनन करने योग्य है तथा आर्य समाज के लिये बड़े गौरव की वस्तु है। वैदिक धर्म के विपक्षी जो वैदिक धर्म को संकीर्ण या संकुचित समझने की भूल करते हैं वे इस पुस्तक को पढ़ कर भली भांति समझ जाएंगे कि वैदिक धर्म कितना उच्च और विशाल है। प्रत्येक मत के विचारशील सज्जनों को इसे पढ़ कर लाभ उठाना चाहिये। यह प्रत्येक लाइब्रेरी में रखने योग्य, उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों को पुरस्कार देने योग्य और बंगला, मराठी, गुजराती, मद्रासी, उर्दू और अंग्रेजी आदि भाषाओं में शीघ्र अनुवाद होने योग्य है। इस ग्रन्थ रत्न को लिखने पर हम स्नातक पं० धर्मदेव जी सिद्धान्तालंकार, विद्यावाचस्पति को हृदय से बधाई देते हैं और आशा करते में कि इस पुस्तक का अधिक प्रचार होगा।

(स्वामी) कृष्णानन्द **'वेदोदय' प्रयाग**

अशुद्धि शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	८	सूपायनो भव के पश्चात् छूटा पाठ	सचस्वा नः स्वस्तये
५	२२	कल्याण के लिये के पश्चात् छूटा पाठ	(सचस्व) संयुक्त कर
७	२१	सुप्रधा	सुदुघा
१०	१४	अहमीवः	अनमीवः
१३	१५	भुवनाय नन्यन्य	भुवना यन्त्यन्या
१७	१६	दधाधि	दधासि
२०	१४	स्वर्हित	स्वर्हितम्
२१	१२	हर्ष	आनन्द
२२	६	अदितिः	× ×
२४	६	ऋतुं आभरं	क्रतुं नआभर
२५	११	पूर्व रूपाणि	पूर्व रूपाणि
२६	४	ता शांतिभिः	× शांतिभिः
२७	३	अजयन्त	अयजन्त
२७	६	यह शब्द	यज्ञ शब्द
३१	१६	दोमों	दोनों
३२	१६	अदृश्य	अधृष्य
३३	२१	विजुगुप्सतो	विजुगुप्सते
३६	३	एनांसी	एनांसि
४६	२	अस्सन्ना-शयामःस	अस्मन्ना-शयामसि
५६	२०	मनोस्पापः	मनस्पाप
५०	१	ममाङ्गानी	ममाङ्गानि
५०	१७	प्राणाश्चक्षुः	प्राणश्चक्षुः
५०	२०	सर्वांतमनिभृष्टः	सर्वातमानिभृष्टः
५१	१६	त्व हि	त्वे हि
५३	१२	क्रियावानेश	क्रियावानेष
५४	१	विश्वे देवः	विश्वदेवः
६०	१८	यो मूर्धानः	ये मूर्धानः
७०	१२	उतभिता	उत्तभिता
८३	१२	तपाने वाला न हो कर	तपाने वाला होकर
८६	५	मर्हिता	मर्डिता
९७	१०	ब्रह्मचर्यण	ब्रह्मचर्येण
१२०	१	यतो हि	यज्ञो हि
१२०	५	तज धातु	यज धातु
१२१	२०	आरोद्दयन्	आरोहयन्
१२५	८	स्थायुः	स्थातुः
१३१	१२	समानि	समानी
१३३	६	अपृणम्	अपृणन्
१४३	३	विप्र और···	विप्र और कवि शब्द अग्नि के साथ आये हैं
		हृयये	हृदये
१४७	१५	देक्ता	इन्द्र देवता
१४९	८	शवांसि	श्रवांसि

१५२	६	स्मनि	स्याम
१५७	१०	योग क्षेमो न	योगक्षेमो नः
१६१	२१	पृथिवी	पृथवि
१६६	२	सुपेशशी	सुपेशसो
१७७	२०	मौज	मांज
१७९	१७	हर	पर
१८४	३	दियं	दिव्यम्
,,	८	पुण्य	पुण्यापुण्य
१८५	६	यत्र	यत्थ
१८६	२	उतरा	उत्तम
१८७	१२	ठखेहि	ठानेहि
,,	१३	अयि	ब्रूमि
१८८	२	अब्राह्मण	ब्राह्मण व अब्राह्मण
१९०	१२	ग्रह गेह	गुरुगेह
१९१	२१	है	में
१९३	२	निर्लोप	निर्लोभ
१९४	९	faiter	falter
,,	१०	asken	asked
,,	,,	they	the
,,	१६	Chris-tion	Christian
१९६	१६	in Lord	by Lord
,,	;,	chalness	chalmers
१९९	१	नारसेनाय-मद्दतो	मारसेनप्प-मद्दनो
,,	२	सच्छामिरो	सब्भामिरो

,,	९	विशेष···देता	युक्तियुक्त कथन नहीं
,,	२०	sball	shall
२०१	१७	भृत्योजाः	भूत्योजाः
२०३	७	पालल	पालन
२०५	१२	संभूति	संभूति अ-संभूति
२०७	८	मृधो	मृधो
२०८	२०	तक	तर्क
२१०	१५	परमा	परमं
२११	१७	सब	सब प्रकार
२१३	९	भूतास्य	भूतस्य
२१३	१६	ते न	तेन
२१४	१	लिष्यते	लिप्यते
२१९	१८	therefote	therefore
,,	,,	invitable	inevitable
२२१	९	benifit	benefit
२२२	१३	सार्व	सार्वभौम
२२४	६	puae	pure
,,	७	veartiful	beautiful
		११४—११९	२१४—१९९
२२५	१	Post	Past
२३२	३	चर्याय	चार्याय
२३३	९	उद्भुत	अद्भुत

श्रद्धानन्द-स्मारक निधि

—:०:—

गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी में इस कुल के पिता, अमरकीर्ति, स्वर्गीय श्रद्धेय स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज की पुण्य स्मृति में एक 'श्रद्धानन्द स्मारक निधि' स्थापित हुई है। जो सज्जन चाहें वह इन श्रद्धेय स्वामी जी की स्मृति में इस कुल को प्रति वर्ष दस या इस से अधिक रुपये देने का प्रतिज्ञा पत्र भर कर इस के सभासद् बन सकते हैं। अभी तक ऐसे सभासदों का हमारा परिवार लगभग पांच सौ सज्जनों का बन चुका है। इन्हीं सज्जनों को प्रति वर्ष गुरुकुलोत्सव पर भेंट करने के लिए यह 'स्वाध्याय मञ्जरी' गुरुकुल से प्रकाशित की जाती है।